सेवा-धर्म

प्रेम-मंदिर-पुजारी

स्वर्गीय

कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन

की

पवित्र स्मृति में

अनन्तकुमार जैन ।

सेवा-धर्म्म

"गवने भरत पयादेहिं पाये। कोतल संग जाहिं डोरि आये॥
कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइय नाथ अश्व असवारा॥
राम पयादेहिं पाय सिधाये। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये?
सिर भर जाउ उचित अस मोरा। सब ते सेवक-धर्म्म कठोरा॥"

—तुलसीदास।

संग्रहकर्त्ता, अनुवादक और सम्पादक

"हिन्दीभूषण"

बाबू शिवपूजन सहाय, आरा।

(सम्पादक "मारवाड़ी-सुधार")

प्रकाशक

अनन्त कुमार जैन

"वीर-मन्दिर"

आरा।

सम्पादक

बाबू शिवपूजनसहाय,

आरा।

द्वितीयावृत्ति

मुद्रक—ग० कृ० गुर्जर, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबर,

बनारस सिटी ४५३-२२

प्रकाशक

"वीरमन्दिर" आरा।

"चिरस्मरणीय"

"प्राणाघातान्निवृत्तिः, परधनहरणे-
संयमः, सत्यवाक्यं ।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथा-
मूकभावः परेषाम् ॥
तृष्णां स्रोतोविभंगो गुरुषु विनयः
सर्वभूतानुकम्पा ।
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः
श्रेयसामेष पन्थाः ॥"

"विरलाः परकार्य्यरताः,
परदुःखेनापि दुःखिता विरलाः ।
विरलाः सत्याग्रहिणः,
पतितजनोद्धारमानसा विरलाः ।"
स्पृहणीयाः कस्य न ते,
सुमतेः सरलाशया महात्मानः ।
त्रयमपि येषां सदृशं
हृदयं वचनं तथाचारः ॥"

Love Conquers All

"LOVE IS MY CREED, AND SELFLESS SERVICE OF HUMANITY ITS ONLY TENET."

"The Experience of Love

I AM ALL"

"The Worship of Love

SERVE ALL"

"The Spirit of Love

EXPECT NOTHING"

Peace to me ! Peace to all !

प्रकाशक के दो शब्द ।

यद्यपि मेरे इन दो शब्दों की यहाँ विशेष कुछ आवश्यकता न थी तथापि पाठकों का सन्देह और भ्रम दूर करने के लिये मैं कुछ दो चार शब्द कहना चाहता हूँ।

मेरे श्रद्धास्पद धर्म-बन्धु कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन अब इस असार संसार में नहीं रहे । यह कहना ही अनावश्यक है कि उनके स्वर्गवासी होने से आरा-नगर के अग्रवाल-समाज का तथा भारतीय जैन-सम्प्रदाय का एक बहुत ही सुन्दर और अमूल्य पुरुष-रत्न उठ गया ! उनकी साहित्य-सेवा हिन्दी-जगत् और जैन-संसार में भली भाँति प्रसिद्ध है । अब शीघ्र ही उनकी मृत्यु का वर्ष समाप्त होनेवाला है। अतएव, उनकी स्वर्गीय आत्मा को वर्षान्त की भेंट देने के लिये यह उनकी परम प्यारी पुस्तक मैं प्रकाशित करता हूँ। आशा है, यह भेंट, यह सेवा उनकी दिव्य आत्मा स्वीकार करेगी।

जिन सज्जनों को इस पुस्तक का प्रथम संस्करण देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा उनसे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वर्तमान (द्वितीय) संस्करण में कौन कौन सी विशेषताओं की वृद्धि हुई है। हाँ, जिन महानुभावों ने प्रथम संस्करण नहीं देखा है उन्हें मैं यह बतला देना अपना उचित कर्त्तव्य समझता हूँ

कि पुस्तक के प्रथम और इस द्वितीय संस्करण में बहुत बड़ा अन्तर है। पहले संस्करण से यह दूसरा संस्करण कहीं अधिक उपयोगी बन गया है। आकार-प्रकार, वेश-विन्यास, भाव-भण्डार आदि सब कुछ बदल गया है। कलेवर बदला है, काया पलट हुई है, किन्तु आदर्श वही है। कृश शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया है। शरीर गठन में परिवर्त्तन हुआ है, पर मेरुदण्ड वही है। पुस्तक-गत विषय का रूप विराट् हो गया है और भाव-केन्द्र भी विस्तृत हो गया है। मैं आशा करता हूँ कि यह संशोधित, परिवर्द्धित एवं परिवर्तित संस्करण विशेष उपादेय प्रमाणित होगा।

बड़े शोक की बात है कि स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रप्रसाद जी के साथ ही प्रेम-मंदिर भी जाता रहा। अब उनकी प्रकाशित पुस्तकें दुर्लभ हो गयीं। मैं उन्हें मूल-लेखकों और सम्पादकों से यथा-नियम प्राप्त करके प्रकाशित करना चाहता हूँ। केवल इसी विचार की प्रेरणा से कि कुमार साहब की स्मृति जीवित रहे और उनकी कीर्ति-लता सदा लहलहाती जाय। धन्यवाद है मारवाड़ी-सुधार के सम्पादक हिन्दीभूषण बाबू शिवपूजन सहाय जी को जिन्होंने अपनी अनुवादित पुस्तक—सेवाधर्म्म—का प्रकाशनाधिकार मुझे प्रदान किया है। प्रथम बार उन्होंने इसे अनुवादित करने में जितना परिश्रम किया था उससे भी कहीं अधिक परिश्रम इस बार उन्हें करना पड़ा है। इसका सर्वाङ्ग-शृङ्गार करने में उन्होंने कहाँ तक सफलता प्राप्त की है सो तो इस पुस्तक की लाभकारिता के सम्बन्ध में विचार करनेवाले अनुभवी पाठक ही अनुमान कर

सकेंगे। मैं तो केवल इतना ही कहूँगा कि मुख्यत: सेवा-सम्बन्धी इस ढंग की कोई पुस्तक अभी मेरे देखने में नहीं आई है। सेवा-समितियों के प्रत्येक सदस्य एवं स्वयंसेवक के पास इस पुस्तक की एक एक प्रति अवश्य रहनी चाहिये। इसी विचार से मैंने इसे प्रकाशित भी किया है। आशा है, मेरा विचार सफल होगा तथा इस पुस्तक के संकलनकर्ता एवं सम्पादक का परिश्रम भी सार्थक होगा।

मैंने आरा में "वीर-मंदिर" स्थापित किया है जिसके द्वारा ग्रंथ-प्रकाशन का कार्य्य करना भी अभीष्ट है। मैं यह प्रतिज्ञा नहीं कर सकता कि प्रेम-मंदिर की तरह यह वीर-मंदिर भी छैल-छबीली और रसीली सजीली पुस्तकें प्रकाशित किया करेगा। मैं यथासाध्य प्रयत्न तो अवश्य करूँगा पर सफलता ईश्वराधीन है। इतना तो मैं कह सकता हूँ कि मैं मनोरंजक, उपदेशपूर्ण, सर्वोपयोगी, शिक्षाप्रद और ललित भावमय साहित्य की पुस्तकें यथाशक्ति अच्छे ढंग से, संभवत: निराले ढंग से, प्रकाशित करूँगा। परमात्मा तो मेरी अभिलाषा पूर्ण करेगा ही, हिन्दीप्रेमियों की कृपा का भी मुझे पूरा आसरा-भरोसा है।

वीर-मंदिर, आरा
वसन्त-पञ्चमी १६७८

हिन्दी-प्रेमियों का कृपाकांक्षी
अनन्तकुमार जैन

सम्पादकीय वक्तव्य।

"Errors like straws upon the surface flow;
He who would search for pearls must dive below"

—Dryden.

"It is much easier to meet with error than to find Truth; error is on the surface, and can be more easily met with; truth is hid in great depths, the way to seek does not appear to all the world."

—Goethe.

आज से सात-आठ वर्ष पहले मैंने अपने मित्र कुमार देवेन्द्र प्रसाद के प्रेम-पूर्ण आग्रह से यह पुस्तक अनुवादित की थी। मूल पुस्तक अँग्रेज़ी भाषा में है। उसका नाम है "The way of Service" और उसके रचयिता हैं सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज (बनारस) के भूतपूर्व प्रिन्सिपल जॉर्ज सिडनी अरण्डेल साहब। पुस्तक छोटी सी है पर बड़े काम की चीज है। अरण्डेल साहब के विचारों का सार भाग ग्रहण कर के मैंने "सेवाधर्म्म" को अपनी सदिच्छा के अनुसार सरस और रुचिकर बनाने की चेष्टा की थी। मित्रवर देवेन्द्र जिस समय काशी के उक्त महा-विद्यालय में पढ़ते थे उसी समय उनके हृदय में इस पुस्तक को हिन्दी-संसार में प्रेषित करने की लालसा मूलबद्ध हुई थी। बल्कि उन्होंने मेरे पूज्यपाद गुरुवर पण्डित ईश्वरीप्रसाद जी शर्म्मा (मनोरञ्जन-सम्पादक, आरा) से, कॉलेज में पढ़ते समय ही, The way of service की सोलह-सत्रह

सूक्तियों का भाषानुवाद करा लिया था । श्रद्धेय पण्डित जी की रचना-प्रणाली का अनुकरण करते हुए मैंने शेषांश का भाषानुवाद कर डाला। इस पुस्तक के साथ "प्रेममंदिर" की स्थापना हुई। यही पुस्तक प्रेमोपहार-माला का प्रथम पुष्प हुई। इसीलिये मित्रवर कुमार देवेन्द्रप्रसाद ने इसे अपने विद्या-गुरु अरण्डेल साहब के चरणों में "त्वदीयं वस्तु भो विद्वन् तुभ्यमेव समर्पितम्" कह कर भक्तिपुर:सर भेंट की थी। जिन्हें "सेवाधर्म" का प्रथम संस्करण देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा उन्हें अवश्य स्मरण होगा कि उसके आवरण-पृष्ठ पर श्रीमान् अरण्डेल साहब के छोटे चित्र के नीचे उक्त वाक्य लिखा हुआ था । अभाग्यवश उस चित्र का ब्लाक नहीं मिल सका और न फोटो प्राप्त करने में ही सफलता मिल सकी। प्रिय कुमार जी ने अरण्डेल साहब के हस्ताक्षर तक का ब्लाक बनवाकर प्रथम संस्करण में छपाया था । किन्तु, अब उनकी अनन्य गुरुभक्ति का अरमान कौन पूरा करे ? हाँ, यदि सेवा-व्रती प्रेमियों ने इस बार पुस्तक के नवोत्साही प्रकाशक को प्रोत्साहन प्रदान किया तो विश्वास है कि आगामी आवृत्ति में आशा पूर्ण होगी।

प्रियवर मित्र देवेन्द्रप्रसाद कैसे अच्छे साहित्य-विलासी थे यह हिन्दी-प्रेमियों से छिपा नहीं है। उनके सहवास-सुख को बहुत दिनों तक मैंने अहर्निश अनुभव किया है । वे प्रेम और सात्विक सेवा की प्रत्यक्ष प्रतिमा थे। वे बड़े उत्साही और कर्तव्यनिष्ठ स्वयंसेवक थे। उनकी स्वेच्छा-सेवा-प्रणाली बड़ी मधुर और प्रसाद-

जनक थी। दया और विनयशीलता की तो वे आदर्श मूर्त्ति थे। इसलिये, प्रेममय प्रभु की दिव्य ज्योति में विलीन हुई उनकी आत्मा का सत्कार करने के लिये मैं यह पुस्तक-पुष्पस्तवक पुनर्वार परिष्कृत करके भेंट-स्वरूप उपस्थित करता हूँ। मुझे विश्वास है कि सुहृद्वर कुमार की स्वर्गीय आत्मा की एक आंशिक शक्ति इस पुस्तक में निहित है। उसे यह देखकर सन्तोष होगा कि मैंने उसकी विभूति की वृद्धि के लिये पर्य्याप्त प्रयत्न किया है।

यह कहना अनुचित न होगा कि मेरा अपना (भाव या विचार) इस पुस्तक में कुछ भी नहीं है। मैं वन्दनीय महात्माओं का सन्देश-वाहक दूत, अतएव, एक अकिञ्चन किङ्कर हूँ। अभी मेरा इतना सौभाग्य नहीं है कि मैं विश्व-सेवक अथवा विश्व-प्रेमी बन सकूँ। मैं अभी समाज-सेवक, लोक-सेवक, साहित्य-सेवक या देश-सेवक तो क्या, इन सेवकों के सेवक का दासानुदास बनने योग्य भी नहीं हूँ। लालसा है, क्षमता नहीं। प्रेरणा है योग्यता नहीं। उत्साह है, सौभाग्य नहीं। प्रेम है, उदारता नहीं। एकाएक हृदय में विश्व-प्रेम का जागृत हो उठना परमेश्वर की अशेष अनुकम्पा का चिह्न है। विश्व-सेवा के भावों से शीघ्र ही हृदय परिप्लावित नहीं होता। पहले अभ्यास करना चाहिये। परिवार ही प्रेम और सेवा की शिक्षास्थली है। जो अपने भाई और बच्चे को प्यार नहीं करता वह हर्गिज़ इतना उदार नहीं बन सकता कि समूचे देश के निवासियों को और दूसरे के बच्चों को प्यार करने लगे। जो घर में अपने देव-ऋषि-कल्प माता-पिता की आज्ञा का पालन नहीं

करता वह किसी तरह आदर्श स्वयंसेवक नहीं बन सकता। जो अपने घर के रोगियों की यथेष्ट सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सकता वह मेले या महामारी में असहाय रोगियों की क्या सेवा करेगा? जो अपने आस-पास के मुहल्ले के अनाथों, विधवाओं और ग़रीबों की सेवा-सहायता नहीं कर पाता वह देश-सेवा का भार कैसे उठा सकता है? जो अपने गाँव के लोगों और सगे-सम्बन्धियों की सहायता करने में असमर्थ होगा वह सारे समाज की सेवा का उत्तरदायित्व कैसे ग्रहण करेगा? जो न समाज-सेवा करने में उत्साह दिखाता है और न देश-सेवा के लिये त्यागी बनने को उत्सुक है वह भला विश्व-सेवा का स्वप्न भी कैसे देख सकता है? क्या एक विषधर सर्प, चाहे वह अजगर ही क्यों न हो, शेषनाग की भाँति पृथ्वी-भार सहन कर सकता है? कदापि नहीं। इसलिये, विश्व-सेवक को अनेक छोटी बड़ी सेवा-सोपानों के द्वारा विश्व-सेवा की सर्वोच्च आदर्श-वेदी पर आरोहण करना पड़ता है। स्वार्थ की बलि-वेदी पर आरूढ़ हुए बिना उस आदर्श-वेदी पर चढ़ना असम्भव है। किन्तु एकाएक स्वार्थ से पिण्ड छूट भी नहीं सकता। प्रेम का केन्द्र जितना ही विस्तृत एवं विशाल होता जायगा उतना ही स्वार्थ का ह्रास होता चला जायगा। इसलिये पहले "प्रेम-लता" को परिवार-पादप पर चढ़ाइये। उसे क्रमशः स्वच्छन्द प्रसार पाने दीजिये। पवित्रता के आलवाल (थाले) में सावधानता के जल से उसे सींचते जाइये। फिर तो वह विश्व-विटपी की सघनता से लिपट कर इतना फूलेगी कि

उसकी सुखद सुगन्ध से संसार सुरभित हो उठेगा और उसकी शीतल छाया में सारे जगत के प्राणी सुखशान्ति पावेंगे। किन्तु जब तक आप परिवार से पड़ोस, पड़ोस से ग्राम, ग्राम से परगना या तहसील, परगने या तहसील से ज़िला, ज़िले से प्रान्त और प्रान्त से समस्त देश तक अपनी "प्रेम-लता" का क्रमशः विस्तार न होने देंगे तब तक विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा द्वारा यह नर-जन्म सार्थक करके कभी कृतकृत्य नहीं हो सकते। अस्तु। मैं विश्व-प्रेम की व्याख्या नहीं कर सकता। विश्व-सेवा के महत्व तो मैं स्वयं नहीं समझ पाया हूँ तो दूसरों को क्या बतला सकता हूँ? सच पूछिये तो वह बतलाने की चीज़ भी नहीं। वह केवल अनुभव-गम्य है परन्तु मैं उस कल्पनातीत आनन्द का अनुभवी भी नहीं हूँ। इसी-लिये मुझे बार बार कहना पड़ता है कि इस पुस्तक में जो कुछ है वह स्वनामधन्य सत्सेवापरायणों की आत्मा का परम पावन प्रसाद है। मैंने मधु-संग्रह-कारिणी मक्षिका की भाँति केवल रस-संचय किया है। मक्षिका के पास इतना रस-कोष कहाँ? उसके शरीर में तो रस-बिन्दु या रस-कण तक का पता नहीं है, केवल विष-दंशन और मलिनता ही उसकी निजी सम्पत्ति है। किन्तु उसके मलिन शरीर के परिश्रम से ही एक ऐसी सम्पत्ति संचित होती है जो पृथ्वीतल पर अमृत-भण्डार की सृष्टि करती है और कितने जीवों का केवल उपकार एवं कल्याण करने में ही व्यय होती है। इसीलिये मधु-मक्षिका का घर घर में आदर होता है, घर में उसका शुभागमन मङ्गल-मोद-वर्द्धक माना जाता है। किन्तु मैं

घरेलू मक्खिकाओं की तरह ललाट का चन्दन-तिलक छोड़ कर पैर के सड़े घाव पर बैठना पसन्द नहीं करता। इसलिये, हरे भरे जंगल की ओर निकल गया, मञ्जरित रसाल-वन की ओर उड़ गया, कुञ्ज-कमल-मय सरोवर की ओर चला गया; प्रकृति के श्यामल अंचल को सुशोभित करने वाले सुन्दर फूलों से एक एक बूँद रस की भिक्षा लेकर—नई चूत-मंजरियों से पराग माँग कर और मलिन्दमय अरविन्दों से मकरन्द पाकर सफल-मनोरथ हो लौट आया। मैंने मक्षिका बन कर इतना परिश्रम क्यों किया? केवल इसी लिये कि जिस प्रकार मधु-मक्षिका की संचित सम्पत्ति पर संसार छापा मारता है, परन्तु याद रहे कि परहितार्थ मधु-संचय करने का स्वाभाविक साहस वह कभी नहीं छोड़ती, उसी तरह मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस सेवा-साहित्य-सुमन-संग्रह को प्रेमी लोग हाथो हाथ लूट लेंगे। तब सम्भव है कि इससे भी बड़ा मधु-छत्र निर्माण करने में प्रवृत्त हो जाऊँगा।

इस पुस्तक का संकलन और सम्पादन करने में मुझे कहाँ तक कृतकार्य्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, यह स्वयं पाठक विचार कर लें। मैं अपनी त्रुटि और असफलता का स्वयमेव अनुभव कर रहा हूँ। किन्तु इस समय उनकी पूर्ति का साधन भी मेरे पास नहीं है। जब होगा तब देखा जायगा। इस समय इसे ही अपनाइये, किसी तरह काम चलाइये, फिर उत्साह दिखाइये तो आगे साल इससे भी बढ़िया ले जाइये।

कुछ महाशय संग्रह करके सम्पादन करनेवाले पुस्तक-निर्मा-

ताओं पर जबरदस्ती साहित्यसेवक बनने का आक्षेप करते हैं। यद्यपि मैं उन 'ख्वामख्वाहों' में नहीं हूँ, क्योंकि इस पुस्तक में, साहित्य-सेवा-सम्बन्धी सूक्तियों में, साहित्यसेवी के सहज गुणों का जो वर्णन आया है उनमें से एक भी मुझ में नहीं है—तथापि हिन्दी-हितैषणा की प्रेरणा से यह धारणा मेरे मन में प्राय: उठती ही रहती है कि अभी हिन्दी में ऐसे संग्रह-ग्रन्थों की बड़ी आवश्यकता है जिनमें हिन्दी-साहित्य के केवल अमूल्य रत्न संचित रहें। पहले नख-शिख और ऋतु-बहार तथा भड़ौआ-संग्रह आदि के ढंग से कितने ही संग्रह-ग्रन्थ निकल चुके हैं। अब भी कविता-कौमुदी आदि ग्रन्थ उसी ढंग से निकले हैं। कम से कम, हिन्दी की प्राचीन सम्पत्ति की रक्षा करने के लिये तो अवश्य ही संग्रह का ढंग लाभदायक स्वीकार करना पड़ेगा। नवीन युग का साहित्य-क्षेत्र भी विस्तार पाता चला जाता है। यदि संग्रह करने की प्रणालियाँ प्रादुर्भूत होती चलें तो लाभ के सिवा हानि की कुछ भी संभावना नहीं है। अँग्रेज़ी में एक संग्रह-ग्रन्थ है जिसका नाम है "Useful Instructions" (उपयोगिनी शिक्षाएँ)। उसके संग्रहकार हैं मोती लाल एम० मुन्शी। वह ग्रन्थ तीन बृहत् खण्डों में विभक्त है। शायद फ़ोर्ट-बम्बइ में टाउन-हाल के पास कोई गुजराती-आफ़िस है। वहीं से उक्त ग्रन्थ निकला है। ग्रन्थकार ने उसे भारतमाता को समर्पित किया है, इस आशा से कि उसकी सन्तान ग्रन्थ की शिक्षाओं से लाभान्वित हो। जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह कह सकता हूँ कि वैसा एक भी ग्रन्थ हिन्दी में नहीं है। उसके संग्रहकार ने अँग्रेजी-

साहित्य-सागर में डुबकियाँ लगा लगा कर जो अनमोल मोती पाये हैं उन्हें गुम्फित करके ऐसी सुन्दर रत्न-माला बना डाली है कि देखते ही आनन्द-मग्न हो जाना पड़ता है। वैसे ग्रन्थों की आवश्यकता हिन्दी में उत्पन्न हो चुकी है। ईश्वर किसीको उसकी पूर्ति का साधन बनावें। जो हो, उपकारी एवं सुरुचिवर्द्धक विषयों के संग्रह-ग्रन्थों पर आक्षेप नहीं होना चाहिये। क्योंकि, उनसे साहित्य की शोभा बढ़ती ही है, घटती नहीं।

अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करने से पहले एक और आवश्यक बात कह देना चाहता हूँ। आजकल इस देश में सेवा-समितियों की बड़ी धूम है। स्वयंसेवकों की भी बड़ी चहल-पहल है। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े मेलों और महोत्सवों तथा महासभाओं में जाकर देखिये तो स्वयंसेवकों की बाढ़ देख कर दंग रह जाना पड़ेगा। देश के अभ्युदय का यही शुभ लक्षण है। ता० १२ जून सन् १९०५ ई० बड़ा पवित्र और सौभाग्यशाली दिन था जिस दिन राजनीतिक सन्यासी और निष्काम कर्मयोगी महात्मा गोपालकृष्ण गोखले ने भारत-सेवक-समिति (The servants of India Society) स्थापित की थी। यह दिन शायद भारत की जागृति का जन्म-दिन था। उस दिन से सेवा के सरल भाव देश में फैलने लगे। अब तो अपढ़ किसानों के गाँवों में भी जाकर देखिये तो सेवा-समितियाँ सराहनीय काम कर रही हैं। पारस्परिक सहानुभूति दिन दिन बढ़ती जा रही है। भ्रातृ-भाव का दायरा भी अब संकुचित नहीं रहा। जन-

समाज की सेवा करने की उत्कट उत्कण्ठा नवयुवकों को श्रम-सहिष्णु और त्यागी बनाती चली जाती है। यही सत्ययुग का शुभागमन-सूचक चिह्न है। जहाँ पीड़ितों पर दया की जाती है, जहाँ रोगियों की सादर सेवा होती है, जहाँ असहाय विधवाओं को सात्विक सुख पहुँचाया जाता है, जहाँ अनाथों की रक्षा की व्यवस्था होती है, जहाँ श्रद्धापूर्वक अतिथि-परिचर्य्या होती है, जहाँ दुःखियों का प्राण-त्राण होता है, जहाँ निर्बल जीवों पर करुणा के आँसू बरसाये जाते हैं, जहाँ प्यासे को ठण्ढा पानी और भूखे को भर पेट अन्न दिया जाता है, वहीं सत्ययुग है, वहीं स्वर्ग है, वहीं धर्म का अखाड़ा है, वहीं यज्ञशाला है, वहीं तीर्थ है, वहीं करुणा वरुणालय सच्चिदानन्द का विश्राम-स्थल है। इसलिये, धन्य हैं वे स्थान जहाँ सेवा-समितियाँ वर्तमान हैं देश के नवयुवकों में स्वयं-सेवक बनने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। किन्तु आजकल के कुछ स्वयंसेवक व्यसनी, उद्दण्ड और चंचल-मति होते हैं। स्वयंसेवक को विषय-वासना-विलास से बिल्कुल विरक्त होना चाहिये। उसे आत्म-प्रशंसा, कटुभाषण, आलस्य और क्रोध के आवेश से दूर रहना चाहिये। उन्हें भगवद्गीता और रामायण तथा कुरान-शरीफ़ और बाइबिल आदि धर्मग्रंथों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिये और उन्हें प्रेम से पढ़ना भी चाहिये। उनको गन्दे उपन्यासों और भ्रष्ट तथा अश्लील किस्से-कहानियों को न सुनना चाहिये और न पढ़ना ही चाहिये। निस्वार्थ सेवा एक प्रकार की तपस्या है। तपस्वी को मन, वचन और कर्म से संयमी होना चाहिये। जबतक स्वयंसेवक के चित्त में

संयम-शीलता नहीं आती तबतक उसकी सेवा पवित्र और सुख-दायिनी नहीं बन सकती। उसे अनुभव करना चाहिये। जड़ जगत के जितने पदार्थ हैं सब इस विश्व भूमण्डल के प्राणियों की सेवा में अपना सर्वस्व दे डालते हैं तब भला प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है। नदी, पर्वत, वृक्ष, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ से लेकर तृण और अन्न तक जितने कुछ पदार्थ हैं उनमें ईश्वर की ज्योति की झलक देखना और उनके द्वारा होनेवाले असंख्य उपकारों को स्मरण रखना प्रत्येक स्वयंसेवक का प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिये। मर्य्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी ने सच्चे सेवा-व्रत-धारी हनुमान से स्पष्ट कह दिया है कि—

> "सो अनन्य अस जाहि की,
> मति न टरै हनुमान।
> मैं सेवक सचराचर,
> रूप-राशि भगवान॥"

सचमुच यह दोहा सेवकों के लिये तावीज़ में मढ़ लेने लायक़ है। रामायण में सेवा-धर्म-परायण बाल ब्रह्मचारी हनुमान के आदर्श-चरित्र को पढ़कर शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। पुनः रामायण में भरत और लक्ष्मण जी का विशद चरित्र भी मनन करने योग्य है। भरत जी की भ्रातृ-भक्ति भूलोक-दुर्लभ पदार्थ है। उनका त्याग और सेवा-व्रत संसार भर के लिये एक उच्चतम आदर्श है। लक्ष्मण जी की सेवा-परायणता का दृश्य देखना हो तो चलिये चित्रकूट में जहाँ ज्ञान-सभा में मूर्त्तिमान भक्ति और सच्चिदानन्द की भाँति

विराजमान मुनि-मण्डली-मध्य श्री सीताराम की सेवा में पहुँचते ही जब—

देखे भरत लखन प्रभु आगे।
पूछे वचन कहत अनुरागे॥

तब—

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥
वचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनाम भरत जिय जाने॥
बन्धु सनेह सरस यहि ओरा।
इत साहिब-सेवा बरजोरा॥
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

कहाँ तक लिखूँ? सेवक को किस ऊँचे दर्जे तक त्याग करना चाहिये सो लक्ष्मण जी के चरित्र से सीखिये। उन्होंने अधर्मी राक्षसों के अत्याचार से भारतवर्ष की रक्षा करने वाले आदर्श देश-भक्त भगवान रामचन्द्र की सेवा-सहायता करने के लिये जिस प्रकार सर्वस्व का बलिदान कर दिया था उसी प्रकार आप भी दृढ़ सेवा-व्रती और संयमी होने के लिये कृत-संकल्प हो जाइये। किन्तु

वैसा होने के लिये आपको शीत, वर्षा, घाम का कष्ट भूल जाना पड़ेगा। पर यह भूलना न होगा कि जो अपने सुख की चिन्ता एक दम छोड़ नहीं देता वह दूसरों को सुखी बना ही नहीं सकता। सुख की लालसा छोड़ने से ही परम शान्ति प्राप्त होती है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़ने से शान्ति-प्राप्ति के अभ्यास में स्वयंसेवकों को बहुत कुछ सहायता मिलेगी। मैंने यथा-संभव इसे स्वयंसेवकों के योग्य ही तैयार करने की चेष्टा की है। देश में दुर्भिक्ष और दरिद्रता के दावानल से दग्ध हो कर दीन-दुःखी त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं। उठिये, शुद्ध एवं निष्काम सेवा-व्रती बन कर दौड़ जाइये। किन्तु गजेन्द्र की पुकार सुन कर जिस प्रकार दयासागर विष्णु भगवान अपना पीताम्बर-दुकूल तक साथ लेना भूल कर उसके मोक्ष के लिये दौड़ पड़े थे, पर याद रहे सुदर्शन चक्र लेना नहीं भूले थे, उसी प्रकार आप भी सेवा चाहने वाले असहायों की पुकार पर जब दौड़िये तब इतना स्मरण रखिये कि सब छूटे तो छूटे पर यह पुस्तक कदापि न छूटने पावे।

अब अन्त में मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य पालन करना परम आवश्यकता समझता हूँ। वह यह है कि इस पुस्तक को विशेष उपयोगी बनाने के लिये मैंने जिन पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से सामग्री संकलित की है उनके लेखकों और सम्पादकों का अतीव कृतज्ञ हूँ और उन्हें सादर सविनय धन्यवाद प्रदान करता हूँ। जिन कवियों और लेखकों की सेवा सम्बन्धिनी रचनाएँ इस पुस्तक में संग्रहीत हुई हैं उनको तो मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। केवल आभारी बन

विराजमान मुनि-मण्डली-मध्य श्री सीताराम की सेवा में पहुँचते ही जब—

देखे भरत लखन प्रभु आगे।
पूछे वचन कहत अनुरागे॥

तब—

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥
वचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनाम भरत जिय जाने॥
बन्धु सनेह सरस यहि ओरा।
इत साहिब-सेवा बरजोरा॥
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

कहाँ तक लिखूँ ? सेवक को किस ऊँचे दर्जे तक त्याग करना चाहिये सो लक्ष्मण जी के चरित्र से सीखिये। उन्होंने अधर्मी राक्षसों के अत्याचार से भारतवर्ष की रक्षा करने वाले आदर्श देश-भक्त भगवान रामचन्द्र की सेवा-सहायता करने के लिये जिस प्रकार सर्वस्व का बलिदान कर दिया था उसी प्रकार आप भी दृढ़ सेवा-व्रती और संयमी होने के लिये कृत-संकल्प हो जाइये। किन्तु

वैसा होने के लिये आपको शीत, वर्षा, घाम का कष्ट भूल जाना पड़ेगा। पर यह भूलना न होगा कि जो अपने सुख की चिन्ता एक दम छोड़ नहीं देता वह दूसरों को सुखी बना ही नहीं सकता। सुख की लालसा छोड़ने से ही परम शान्ति प्राप्त होती है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़ने से शान्ति-प्राप्ति के अभ्यास में स्वयंसेवकों को बहुत कुछ सहायता मिलेगी। मैंने यथा-संभव इसे स्वयंसेवकों के योग्य ही तैयार करने की चेष्टा की है। देश में दुर्भिक्ष और दरिद्रता के दावानल से दग्ध हो कर दीन-दु:खी त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं। उठिये, शुद्ध एवं निष्काम सेवा-व्रती बन कर दौड़ जाइये। किन्तु गजेन्द्र की पुकार सुन कर जिस प्रकार दयासागर विष्णु भगवान अपना पीताम्बर-दुकूल तक साथ लेना भूल कर उसके मोक्ष के लिये दौड़ पड़े थे, पर याद रहे सुदर्शन चक्र लेना नहीं भूले थे, उसी प्रकार आप भी सेवा चाहने वाले असहायों की पुकार पर जब दौड़िये तब इतना स्मरण रखिये कि सब छूटे तो छूटे पर यह पुस्तक कदापि न छूटने पावे।

अब अन्त में मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य पालन करना परम आवश्यकता समझता हूँ। वह यह है कि इस पुस्तक को विशेष उपयोगी बनाने के लिये मैंने जिन पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से सामग्री संकलित की है उनके लेखकों और सम्पादकों का अतीव कृतज्ञ हूँ और उन्हें सादर सविनय धन्यवाद प्रदान करता हूँ। जिन कवियों और लेखकों की सेवा सम्बन्धिनी रचनाएँ इस पुस्तक में संग्रहीत हुई हैं उनको तो मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। केवल आभारी बन

विराजमान मुनि-मण्डली-मध्य श्री सीताराम की सेवा में पहुँचते ही जब—

देखे भरत लखन प्रभु आगे।
पूछे वचन कहत अनुरागे॥

तब—

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥
वचन सप्रेम लखन पहिचाने।
करत प्रनाम भरत जिय जाने॥
बन्धु सनेह सरस यहि ओरा।
इत साहिब-सेवा बरजोरा॥
रहे राखि सेवा पर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा।
भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥

कहाँ तक लिखूँ? सेवक को किस ऊँचे दर्जे तक त्याग करना चाहिये सो लक्ष्मण जी के चरित्र से सीखिये। उन्होंने अधर्मी राक्षसों के अत्याचार से भारतवर्ष की रक्षा करने वाले आदर्श देश-भक्त भगवान रामचन्द्र की सेवा-सहायता करने के लिये जिस प्रकार सर्वस्व का बलिदान कर दिया था उसी प्रकार आप भी दृढ़ सेवा-व्रती और संयमी होने के लिये कृत-संकल्प हो जाइये। किन्तु

वैसा होने के लिये आपको शीत, वर्षा, घाम का कष्ट भूल जाना पड़ेगा। पर यह भूलना न होगा कि जो अपने सुख की चिन्ता एक दम छोड़ नहीं देता वह दूसरों को सुखी बना ही नहीं सकता। सुख की लालसा छोड़ने से ही परम शान्ति प्राप्त होती है। आशा है, इस पुस्तक को पढ़ने से शान्ति-प्राप्ति के अभ्यास में स्वयंसेवकों को बहुत कुछ सहायता मिलेगी। मैंने यथा-संभव इसे स्वयंसेवकों के योग्य ही तैयार करने की चेष्टा की है। देश में दुर्भिक्ष और दरिद्रता के दावानल से दग्ध हो कर दीन-दुःखी त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं। उठिये, शुद्ध एवं निष्काम सेवा-व्रती बन कर दौड़ जाइये। किन्तु गजेन्द्र की पुकार सुन कर जिस प्रकार दयासागर विष्णु भगवान अपना पीताम्बर-दुकूल तक साथ लेना भूल कर उसके मोक्ष के लिये दौड़ पड़े थे, पर याद रहे सुदर्शन चक्र लेना नहीं भूले थे, उसी प्रकार आप भी सेवा चाहने वाले असहायों की पुकार पर जब दौड़िये तब इतना स्मरण रखिये कि सब छूटे तो छूटे पर यह पुस्तक कदापि न छूटने पावे।

अब अन्त में मैं अपना प्रधान कर्त्तव्य पालन करना परम आवश्यकता समझता हूँ। वह यह है कि इस पुस्तक को विशेष उपयोगी बनाने के लिये मैंने जिन पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से सामग्री संकलित की है उनके लेखकों और सम्पादकों का अतीव कृतज्ञ हूँ और उन्हें सादर सविनय धन्यवाद प्रदान करता हूँ। जिन कवियों और लेखकों की सेवा सम्बन्धिनी रचनाएँ इस पुस्तक में संग्रहीत हुई हैं उनको तो मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। केवल आभारी बन

कर मैं उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। हाँ, यदि जनता की सेवा में तत्पर रहने वाले भाइयों को यह पुस्तक कुछ भी लाभदायक प्रतीत हुई तो सफल श्रम होने के कारण मैं अपने को ऋण-मुक्त ही समझूँगा।

ग्राम—उनवाँस	सेवा-व्रत धारियों का
डाकघर—इटाढ़ी	एक तुच्छ सेवक
ज़िला—शाहाबाद	शिवपूजन सहाय
कार्तिक १९७८	(आरा)

सेवाधर्म्म

"सेवा"

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः

—श्री भर्तृहरिः।

'सेवा' है तो दो ही अक्षरों का शब्द परन्तु इसकी व्याख्या शायद एक छोटी मोटी पुस्तक द्वारा भी पूरी नहीं की जा सकती, फिर इस छोटे से निबन्ध में इसके विषय में कहाँ तक लिखा जा सकता है, यह सहज ही अनुमान कर लिया जा सकता है। तो भी, हम भिन्न भिन्न (सेवा के) प्रकारों का यत्किञ्चित् दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। आशा है, इससे हमारे पाठकों को कुछ लाभ होगा।

साधारणतया सेवाशब्द का अर्थ है नौकरी, अर्थात् उदर-पूर्त्ति की कामना से, किसी सेठ-साहूकार के यहाँ अथवा राज-दर्बार में नौकरी कर लेना। इस सेवा-परायण देश के लोगों को 'सेवा' का यही अर्थ सब से पहले मालूम होता है। इस सेवा का पुरस्कार वेतन-रूप में किसी को एक मास पीछे, किसी को वर्ष भर पीछे,

किसी को एक सप्ताह पर और किसी रोज़ का रोज़ ही मिल जाता है। इस पारिश्रमिक को प्राप्त करने के लिये, सेवक को, अपने मालिकों को सहस्ररीत्या सन्तुष्ट करना पड़ता है। लाख लाख खुशामदें करनी पड़ती हैं। देह की हड्डी-पसली तोड़नी पड़ती है। मस्तिष्कके एक एक स्नायु-तन्तु का तार तोड़ना पड़ता है। तब कहीं उजरत या रोटी का टुकड़ा नसीब होता है। बच्चों को लड़कपन ही से सिखलाया जाता है कि बेटा! सेवा से मेवा मिलता है। यह तुकबन्दी उनके कानों को प्यारी लगती है और वे उसे कण्ठस्थ कर बार बार, समय समय पर, दुहराया करते हैं; परन्तु बड़े होने पर जब उन्हें वही सेवा करने का अवसर प्राप्त होता है तब देखते हैं कि सेवा जैसी कठिन वस्तु है, उसकी साधना जैसी विकट, असाधारण और कष्ट-साध्य है, वैसा उसका परिमाण नहीं है। हमें मेवा तो नहीं मिलता। हाँ, रूखी-सूखी दाल-रोटी का प्रबन्ध हो जा सकता है। मेवे की बात बिल्कुल ही कल्पना प्रतीत होती है। वह तुकबन्दी जैसी कर्ण-मधुर थी, अगर घटना भी उसी की तरह होती तो क्या ही अच्छी बात होती। इसीसे उदर-पूर्त्ति के निमित्त जो सेवा-धर्म्म या या सेवावृत्ति स्वीकार की जाती है वह कभी सुख और सन्तोष नहीं देती। वह सदा अशान्ति, असन्तोष और उद्वेग से पूर्ण है। उसका नाम बड़ा और दर्शन खोटे हैं। उसका आदि सुखद, मध्य विकट और अन्त शून्य है। अतएव, हम इस सेवा को बड़ी ही निकृष्ट श्रेणी में रखते हैं। और, यह स्पष्ट बतला देना चाहते हैं कि, ऊपर के श्लोकमें, योगियों के

लिये भी अगम्य, जिस सेवा-धर्म का उल्लेख किया गया है, यहाँ हमारा अभिप्राय उसी "सेवा" से है।

उच्च श्रेणी का—साथ ही लोक-परलोक में सुखद, शान्तिप्रद और कल्याणदाता सेवा-धर्म यह है कि निष्काम भाव से, स्वार्थ एवं वासना से परे हो कर, यथाशक्ति लोक-सेवा करे। ऊपर बतला ही चुके हैं कि महज़ अपना पेट भरने के लिए जो सेवा करते हैं उन्हें कितने क्लेश, मनस्ताप, दुःख और साधना द्वारा अपने कर्त्तव्य कर्म्म करने पड़ते हैं। फिर यह, जो उसकी अपेक्षा कहीं विकट कर्त्तव्य है, कितनी कठिनाई से पालन किया जा सकता है, यह आप स्वयं ही अनुमान कर लें। भर्तृहरि महाराज ने जो इसे योगियों के लिए भी अगम्य कहा है वह यथार्थ ही है। यह तो वही कर सकता है जिसके संस्कार शुद्ध हों, आरम्भिक जीवन से ही जिसने लोक-हित और लोक-सेवा के भाव अपने हृदय में भर रखे हों। स्वार्थी, कुटिल, आत्मोदर-परायण जीवों से यह दुष्कर कार्य कदापि साध्य नहीं है।

जिस मनुष्य के हृदय में लोक-सेवा करने का तनिक भी विचार हो उसे मनःसंयम द्वारा अपने शरीरस्थ महारिपुओं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य्य—पर पूर्ण विजय प्राप्त करनी चाहिये। क्योंकि जो मनुष्य इन उद्दाम प्रवृत्तियों के वश में होते हैं वे लोक-सेवा करने योग्य कदापि नहीं। हाँ, लोकापकार उनसे पद-पद पर हो सकता है।

भला यह कौन नहीं जानता कि इन प्रबल शत्रुओं को वशीभूत

करना कोई लड़कों का खेल नहीं है। एक को ही दमन करते करते मनुष्य थक जाता है। फिर यहाँ तो पूरे छः हैं। परन्तु मनुष्य के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। वह जो कुछ चाहे कर ले सकता है। एक ही दिन में कोई पहाड़ नहीं खोद सकता पर निरन्तर लगे रहने से सभी कुछ हो जा सकता है। युरोप का प्रचण्ड वीर स्वनामधन्य नैपोलियन कहा करता था कि असंभव शब्द मूर्खों के ही शब्द-कोष में पाया जाता है। अतएव हमें इन कुप्रवृत्तियों का दमन असंभव न समझ कर, छोटे छोटे कामों में थोड़ा थोड़ा करके, इनका दमन करना सीखना चाहिये। धीरे धीरे अभ्यास बढ़ते बढ़ते कुप्रवृत्ति-दमन हमारी प्रकृति हो जायगी और फिर हम उपयुक्त लोक-सेवक बन कर मनुष्य-जाति का ही नहीं संसार के समस्त जीवों का, हित करने में समर्थ हो सकते हैं।

सच्चे हृदय से और शुद्ध सात्त्विक भावों से प्रेरित होकर, स्वार्थ की दुर्गन्ध से रहित, छोटे से छोटी लोक-सेवा का कार्य्य भी, बड़ा भारी महत्त्व रखता है। इसके बराबर आत्मा को सुख देने वाला और कोई काम नहीं है। अंग्रेज़ी-भाषा के महाकवि और नाटककार संसारप्रसिद्ध शेक्सपियर ने अपने "मर्चेन्ट आफ़ वेनिस" नामक प्रसिद्ध नाटक की नायिका पोर्शिया के मुख से क्या ही अच्छी बात कहलायी है कि "दूसरों की यदि कुछ भलाई अपने से बन आती है तो अपनी आत्मा भी सुखी होती है और उसकी भी, जिसके ऊपर उपकार किया जाता है। इससे बढ़ कर दोहरा फ़ायदा और किस काम में होगा? देखो, हमने जो

अभी एक निरपराध की रक्षा की है उससे हमें सारे संसार में आज आनन्द की ही मधुर मन्दाकिनी बहती दिखाई देती है। चाँद-सूरज में कुछ विलक्षण ही शोभा दीख पड़ती है। पृथ्वी का एक एक कण मानों हँस रहा है। हमारी मेज़ पर जलती हुई यह लालटेन भी आज कुछ और ही छटा दिखा रही है!"

वास्तव में, यह कोरी कवि-कल्पना ही नहीं है। उस उपकारिणी आत्मा को पृथ्वी ही स्वर्ग हो जाती है जिसने निष्काम भाव से किसी की कुछ सेवा की। तुम रास्ते में चले जा रहे हो। जेठ की कड़ी दोपहरी है। झुलसानेवाली लू चल रही है। पृथ्वी तवेसी तप रही है। इसी समय एक ओर से कोई बूढ़ा माथे पर बड़ा भारी गट्ठर लिये चला आया और पास में ही एक वृक्ष देख उसकी छाया में, कुछ देर विश्राम करने की इच्छा से, उसने अपना गट्ठर उतारना चाहा। पर, इस कठिन ग्रीष्म में लगातार पथश्रम से उसकी अवस्था-क्लिष्ट-देह और भी खिन्न हो गयी है। अतएव, उससे वह गट्ठर अकेला नहीं उतारा जाता। वह आशाभरे नेत्रों से तुम्हारी ओर देखता और गट्ठर को नीचे उतारने में सहायता करने की प्रार्थना करता है। तुम्हारे हृदय में एक खटका सा हुआ और तुमने अपनी घड़ी-छड़ी-ऐनक, कोट-बूट-पैंट और शान-शौक़त का खयाल छोड़ उस बूढ़े बिचारे का गट्ठर उतारा। उसने दोनों हाथ ऊँचे कर लाखों असीसें दीं। तुम्हारा रोम रोम खिल उठा। धमनियों में एक बिजली सी दौड़ गयी और तुम्हारी आत्मा स्वर्गीय आनन्द से विह्वल हो उठी। इस सुख का अनुभव

उस अभिमानी छोकरे को कहाँ हो सकता है जिसने थोड़ी देर पहले बेचारे को वह डाँट बतायी थी कि बेचारा अलिफ़ से बे भी नहीं कह सका। कितने अल्प परिश्रम की और बिना पैसे कौड़ी की सेवा थी? उसे करने में तुमको इतना आनन्द आया जिसे त्रिभुवन का राज्य देकर भी कोई ख़रीद नहीं सकता! यह सेवा-जन्य आनन्द, आत्मिक सुख, अनुभव करने की ही चीज़ है। गूँगे के गुड़ की तरह यह बताया नहीं जा सकता कि कितना मधुर है।

भयानक मरी पड़ी है—लोग यत्र-तत्र भागे चले जा रहे हैं। अमीरों ने बस्ती खाली कर दी है, पर बेचारे ग़रीब मौत के मुँह में पड़े हुए हैं। तुमने ऐसे समय बस्ती में ही रह कर, अपने प्राणों की मोहमाया त्याग, अपनी सामर्थ्य भर, इन दुःखार्त्त मनुष्यों की सेवा की। तुम्हारी सेवा से कितनों के प्राण बचे, कितनों को यथेष्ट औषध—पथ्य मिला, कितने ही लावारिस=जिनका शव-संस्कार करने वाला भी कोई न था, तुम्हारे द्वारा समाधिस्थ वा चिता-भस्म किये गये। चारो ओर से तुम्हारी जय जयकार हो रही है। दीन दुखियों के दिल से निकले हुए आशीर्वचनों की सुमन-वृष्टि तुम्हारे मानस मन्दिर के अधिष्ठाता देव के चरणों में अर्पित हो रही है। उनकी सुखमय सुगन्ध से तुम्हारा बाह्यान्तर पवित्र हो गया; वह अनिर्वचनीय नैसर्गिक सुख का क्या व्याख्या करके बतलाया जा सकता है कि कैसा है?

श्रीमान पं० इश्वरीप्रसाद जी शर्मा, (प्रेम-पथिक)।

[धर्माभ्युदय]

अतिथि-सेवा ।

जिस के आने की तिथि निश्चित न हो उसे ही अतिथि कहते हैं। आतिथि का सत्कार गृहस्थाश्रम का मुख्य धर्म है। भारतवर्ष का अतिथ्य प्रसिद्ध है। इस देश में अभ्यागत को सन्तुष्ट करने के लिये सर्वस्व न्योछावर करनेवाले महापुरुष और महिलाएँ हो चुकी हैं। सचमुच नवागन्तुक साक्षात् नारायण का स्वरूप है। अतिथि-सेवा बड़े सौभाग्य से सुलभ होती है।

—स्वामी श्रद्धानन्द ।

साईं समय न चूकिये यथाशक्ति सम्मान ।
को जाने को आइ है तेरी पौरि प्रमान ॥
तेरी पौरिप्रमान समय असमय तकि आवै ।
ताको तू मन खोलि अंक भरि हृदय लगावै ॥
कह गिरिधर कविराय सबै यामें सधि आई ।
शीतल जल फल फूल समय जनि चूको साईं ॥

—गिरिधर कविराय ।

जिस के घर से बिना आदर पाये अतिथि लौट जाता है उसके घर से पितृ-देवगण आदि अप्रसन्न हो कर चले जाते हैं।

—हितोपदेश ।

सज्जनों के घर में अतिथि की सेवा के लिये आसन, शीतल

जल एवं मधुर वाणी की कभी कमी नहीं होती। जो अतिथि आता है वह अवश्य ही आराम से सोने-बैठने की जगह, रुचिकर अन्न-जल और मनोहर वचन द्वारा सन्तोष पाता है ।

—नीति-तरंगिणी ।

साहित्य-सेवा ।

साहित्य-सेवा करना भी समाज-सेवा ही करना है । साहित्य द्वारा ही समाज को आदर्श बनाने का सफल उद्योग हो सकता है। श्रीगोस्वामी तुलसी-दास जी की साहित्य-सेवा का इतना उच्च सम्मान और अलौकिक आदर इसी लिये है कि उसके द्वारा समाज-सेवा का बहुत ही बड़ा कार्य्य सिद्ध हुआ है। उनकी साहित्य-सेवा ने समाज का उद्धार कर दिया है । उनकी साहित्य-सेवा ने भारतीय समाज का वास्तविक कल्याण करके जो लोकोत्तर महत्व पाया है वह संसार भर के साहित्य सेवकों के लिये आदर्श है। केवल उसीकी साहित्यसेवा से समाज का हित-साधन हो सकता है जिसका पवित्र एवं कोमल हृदय विश्व-प्रेम की गद्-गद करुणाश्रु-धारा से सिक्त हो और जिसकी सच्चरित्रता की सुगंध वायुमण्डल को सुरभित बना सकती हो ।

—"इन्दु" (काशी) ।

मेरा उद्देश्य देश में शुद्ध, निर्मल, देशभक्ति-रसपूर्ण साहित्य का प्रचार करना है; इसी से भारत-राष्ट्र का उत्थान होगा। उस परम ब्रह्म की भी यही आज्ञा है।

—स्वामी सत्यदेव।

वही साहित्य-सेवा सार्थक है जिससे वस्तुतः लोकोपकार हो, सज्जनों का मनोरञ्जन हो, जनता में शुद्ध भाव का संचार हो, समाज में सदाचार का प्रचार हो, आबाल-वृद्ध नर-नारी नैतिक उपदेश सीखें, सर्वसाधारण में एकता और सद्भाव फैले, समाज-संगठन में सहायता मिले, आत्मोन्नति और देशोन्नति का मार्ग सूझ पड़े तथा ईश्वर-प्रेम का विकास हो। जिसकी साहित्य-सेवा ने लोगों की मानसिक उन्नति में सहारा नहीं दिया और जो जन-साधारण को निर्दोष प्रसन्नता का उत्तम साधन न बन सकी तथा साहित्य-सेवी की अनुरागमयी प्रबुद्ध प्रतिभा का सुख-शान्तिवर्द्धक चमत्कार न दिखा सकी—वह साहित्य-सेवा राष्ट्र की हानि करने-वाली है।

—रमेशचन्द्रदत्त।

जैसे धन का एक उपयोग जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करना है वैसे ही भाषा का मुख्य उद्देश्य परोपकार है अर्थात् अपने अन्य बन्धुओं की सेवा करना है। भाषा का मुख्य उद्देश्य उच्च भावों को अपने भाइयों के सामने रखना अर्थात् उनको उन्नत पथ पर ले जाने के लिए नया सन्देशा, नया उत्साह, नयी सामग्री और नया आदर्श पेश करना है। तात्पर्य्य यह है कि भाषा का

उद्देश्य समाज का सुधार करना और उसको उन्नति के पथ पर ले जाना है। भाषा शुद्ध साहित्य तथा पवित्र भाव प्रचार करने के लिये है; भाषा मानसिक व्याधियों का इलाज करने के लिये है; भाषा समाज में उन्नत विचार फैलाने के लिये है; इसलिये गन्दी और अश्लील पुस्तकें रचनेवाले अपनी मातृ-भाषा के शत्रु हैं। जो भाषा जैसे पवित्र साधन को अपवित्र बनाता है और साहित्य जैसी राष्ट्रीयशक्ति को कमज़ोर करने का उद्योग करता है वह दुष्ट है।

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ।

क्या आपके पास विमल विचार हैं ? क्या आप अपनी अन्तरात्मा का सच्चा सन्देश अपने भाइयों को सुनाना चाहते हैं ? क्या आपने "मातृवत् परदारेषु" का पाठ अभ्यस्त किया है ? क्या आपने कभी एकान्त में लोक-रञ्जन की महिमा का अनुमान किया है ? क्या आपने मातृभाषा के चरणों में शुद्ध हृदय से कभी श्रद्धा-सुमनाञ्जलि चढ़ाई है ? क्या आपके मन में देशाभिमान की सात्विक सत्ता है ? क्या आप ईश्वर-भक्ति और "अहिंसा परमो धर्मः" की महत्ता और शक्ति से परिचित हैं ? यदि नहीं हैं तो बस साहित्य-सेवा का नाम लेने मात्र तक का साहस भी आप मत कीजिये।

—"अर्चना" (बँगला)

स्मरण रक्खो, निरभिमानी और स्वार्थत्यागी लेखक जिस देश में उत्पन्न हुए हैं उन्होंने उस देश की भाषा को अजर और अमर

बना दिया है । वाल्मीकि, वेदव्यास, कणाद, कपिल, गौतम, पतञ्जलि आदि महर्षियों ने स्वार्थ को त्याग कर लेखनी उठायी थी और जो कुछ लिखा वह अजर और अमर हो गया। आओ, हम उन प्राचीन साहित्यसेवियों से शिक्षा ग्रहण कर उनके पथानुगामी हों। जैसे वे हमारे लिए पवित्र ग्रन्थरत्नों की जायदाद छोड़ गये हैं वैसे ही हम भावी भारत के लिए साहित्य-स्तूपों की रचना करें। जैसे उन्होंने साहित्य के लिये स्वार्थ को त्यागा था, हम भी उनकी भांति स्वार्थ त्याग कर साहित्य-सेवा पर कटिबद्ध हों।

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ।

समाज-सेवा ।

लगभग सभी गाँवों में कोई न कोई अछूत जाति रहती है। क्योंकि वह समाज के सामाजिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी लाभोंके लिये उपयोगी और आवश्यक होती है । न केवल इस उपयोगी जाति की उपेक्षा ही की जाती है किन्तु वह घृणा की दृष्टि से भी देखी जाती है। इस बात से पता चलता है कि इन लोगों की मानसिक अवनति कहाँ तक हुई है। इन सब को धीरे धीरे शिक्षा देकर और उन्नत बना कर इनकी सामाजिक अवस्था में सुधार करना एक ऐसा काम है जिसकी उपेक्षा मातृभूमि का सच्चा पुत्र कभी नहीं कर सकता।

'सेवामार्ग' ।

अपनी समाज का अध्ययन करो, उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करो और उसकी पूर्ति के लिये कुछ उपाय सोच निकालो। उन उपायों को स्वयं सोचो ।

इस कार्य्य में तीन गुणों की आवश्यकता है—(१) विचार करते रहने के लिये पर्य्याप्त शक्ति (२) प्रयत्न करते रहने के लिये पर्य्याप्त धैर्य्य और यह कल्पना करने के लिये कि अभीष्ट की प्राप्ति का कुछ न कुछ उपाय अवश्य है—पर्य्याप्त विश्वास !

'सेवामार्ग' ।

यदि आप सिपाही हैं तो घूँस (रिश्वत) से बचना चाहिये। ग़रीबों को धक्का देने का निश्चय न करना चाहिये और उन पर दया-दृष्टि रखनी चाहिये। आपको यह भी समझना चाहिये कि हम जन-समाज के नौकर हैं, न कि मालिक। उन्हें तकलीफ़ में सहायता देना आपका कर्त्तव्य है। दुःख देने में आप यदि स्वयं दृष्टान्त स्वरूप बनें तो यह निरा अन्याय है।

—महात्मा गांधी ।

कोई भी व्यक्ति, कोई भी जाति दूसरे से घृणा करेगी तो जीती न बचेगी। देश के सर्वसाधारणों का अपमान करना ही हमारा प्रबल जातीय पाप है और यही हमारी अवनति का एक कारण है। यदि हमें सचमुच भारत का पुनरुद्धार करने की इच्छा है तो हमें जनता के लिये अवश्य ही काम करना होगा।

—स्वामी विवेकानन्द ।

सगों को जो न काम आया
करेगा करेगा जाति-हित वह क्या ?
न जिस से पल सका कुनबा
नगर उस से पलेगा क्या ?
न जिसने घर सँभाला
देश को क्या वह सँभालेगा ?
न जो मक्खी उड़ा पाता है
वह पंखा झलेगा क्या ?

—हरिऔध।

प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंग है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना सुधार करने में तत्पर हो जावे तो समाज शीघ्र ही उन्नत बन जावे। समाज के सब श्रेणी के मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिये प्रयत्न करना ही सच्ची समाज-सेवा है।

—"हितकारिणी"।

यदि आप समाज-सेवा करने की अभिलाषा रखते हैं तो जेल के कैदियों की दशा का सुधार करने की चेष्टा कीजिये। सभी दण्डित मनुष्यों को प्रेम, नम्रता, सहृदयता और शान्ति के साथ यह मधुर उपदेश दीजिये कि वे अपना भावी जीवन निष्कलंक बनाने का अभ्यास करें। समाज के अपराधियों से घृणा मत कीजिये बल्कि उन्हें सच्ची राह पर ले आने का पूर्ण प्रयत्न कीजिये।

शठ को शठता से और दुष्ट को दुष्टता से आप वश में नहीं कर सकते। केवल प्रेम और दया की महिमा समझ लेने से सर्प भी तुम्हारे गले का पुष्प-हार बन जायगा। जो अज्ञान-वश अपराध करके दुःख पाते हैं उन्हीं को पश्चात्ताप की अश्रु-गंगा में नहा कर शरणागत वत्सल दीनदयालु परमात्मा के आगे क्षमा-प्रार्थना और सत्य प्रतिज्ञा करने के लिये विशेष उत्साहित करो।

—"मर्य्यादा" (प्रयाग ।)

यदि तुम समाज-सेवा करना चाहते हो तो पहले समाज की सच्ची दशा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करो। क्या तुम्हें मालूम है कि जिस शहर या गाँव में तुम रहते हो उसमें कितनी असहाय या पर्दानशीन विधवाएँ हैं जो समाज के शाप से अनाथ बन गई हैं? क्या तुम जानते हो कि हमारी बस्ती में कितने अन्धे, लँगड़े-लूले, कोढ़ी-अपाहिज, निस्सहाय रोगी और अशिक्षित अनाथ बालक हैं? क्या तुम जानते हो कि हमारे नगर के अस्पतालों और स्टेशनों में सर्वसाधारण को कैसी कैसी कष्टकर असुविधाएँ होती हैं? क्या तुम्हें कुछ मालूम है कि हमारे गाँव या पड़ोस के मुहल्लों में कितने ऐसे परिवार हैं जिनमें एक कमाने वाले के भरोसे दस खाने वाले हैं? यदि तुम्हें नहीं मालूम है तो तुम कदापि समाज-सेवा नहीं कर सकते।

—ललिता।

किसी देश की परिस्थिति का अनुमान उसके लखपतियों और विशेषज्ञों की संख्या से नहीं हो सकता। इसके लिये हमको यह

देखना होगा कि उसकी सामान्य जनता कहाँ तक शिक्षित और सम्पन्न तथा दुष्काल और दरिद्रता से बची हुई है। हमारा राजनीतिक जीवन हमारी सामाजिक उन्नति पर निर्भर है। कोई धर्म हो, अपने अनुयायियों के स्वभाव से अधिक श्रेष्ठ नहीं हो सकता। यदि जनता अशिक्षित है तो वह उत्कृष्ट धर्म को पतित कर देगी। जिन लोगों की दिनचर्य्या अस्वास्थ्यकर और धार्मिक विचार भ्रान्तिपूर्ण हैं, जिनका जीवन घोर दरिद्रता से भरे हुए गन्दे मकानों में बीतता है, उनके आदर्श कभी उन्नत नहीं हो सकते। उच्च श्रेणी वालों को चाहिये कि निम्नश्रेणी वालों को रहन-सहन के श्रेष्ठतर मार्ग दिखलायें। इसीका नाम समाज-सेवा है। ऊँचे को नीचे की सेवा करनी चाहिये।

—"मर्य्यादा" (काशी)

लोक-सेवा।

हृदय से पत्थर कर दें मात। नहीं यह मनुष्यत्व की बात॥
सेव्य है सब जग का वह धीर। लोक-सेवा में हो जो वीर॥

प्रेमी लोक-सेवक।

करुणा-भरे प्रेम के आँसू ढल कर सुधा समान।
सींच दया की जड़ देते हैं जगको आश्रय दान॥

जन में दिखती प्रेमी को प्रियतम की प्रिय कान्ति।
इससे उसे लोक-सेवा में मिलती है अति शान्ति॥

* * *

पीड़ित की पीड़ा, भूखे की क्षुधा, तृषित की प्यास।
उदासीनता निराश्रयों की, आशा रहित उसास॥
कुशित जाति के उन्नति पथ के कंटक चुन कर दूर।
प्रेमी परम तृप्त होता है आह्लादित भरपूर॥

—(मिलन)

यदि आप लोक-सेवा करना चाहते हैं तो ग्रामीणों की ओर ध्यान दीजिये। उन्हें हवादार और प्रकाशपूर्ण मकान बनाने का ढंग बताइये, उन्हें मुकद्दमेबाजी के पंजे से छुड़ा कर अदालतों के इन्द्रजाल से बचाइये, उन्हें खान-पान और रहन-सहन में स्वच्छता रखने का लाभ बतलाइये तथा उन्हें देश की अवस्था की कहानी सुनाइये।

—"गृहस्थ" (बँगला)।

देश-सेवा।

सेवा करने में स्वदेश की—जो मेरा यह जाय शरीर।
तो मेरा जीना सार्थक हो—समझूँ मैं अपने को वीर॥

यदि भारत के इस संकट के समय में हमारा जन्म हुआ है तो हमें परमात्मा को धन्यवाद देना चाहिये, क्योंकि हमको अपने

देशवासियों की सेवा करने का विशेष अवसर मिला है। हमारा काम बहुत ही निराला, सुरीला और विकट है।

—स्वामी रामतीर्थ।

स्वयंसेवक की प्रतिज्ञा।

मेरा देश, देश का मैं, देश मेरा जीव प्रान,
मेरा सनमान मेरे देश की बड़ाई में।
जिऊँगा स्वदेश-हित, मरूँगा स्वदेश-काज,
देश के लिये न कभी करूँगा बुराई मैं।
भीषण भयंकर प्रसंग में भी, भूल के भी,
भूलूँगा न देश-हित राम की दुहाई मैं।
जब लौं रहेगी साँस सर्वस भी लुटा दूँगा,
ईश को भी झुका लूँगा देश की भलाई में ॥१॥

वह व्यर्थ ही जन्मा जगाया देश को जिसने नहीं।
जातीय जीवन की झलक आई कभी जिसमें नहीं॥

स्वयंसेवक की अभिलाषा।

चर्चा जहाँ देश की हो मेरी जीभ वहीं खुले,
और नहीं खुले कहीं खुदा की खुदाई में।

मेरे कान गान सुनें साँचे देशभक्तन के,
और गान आवे कभी मेरे ना सुनाई में ।
मेरे अंग रंग चढ़े एक देश-प्रेम का ही,
और रंग भंग हो के बूड़े जा तराई में ।
मेरो धन मेरो तन मेरो मन मेरो जीव,
मेरो सब लगे प्रभो देश की भलाई में ॥२॥

गिरिधर शर्मा "नवरत्न"

हमें चाहिये कि हम अपने स्काउटों (बालचरों) के हृदय में अपनी देशी पोशाक और स्वधर्म्मानुसार खान-पान में इतना प्रेम उत्पन्न कर दें कि वे चाहे जहाँ जायँ, चाहे कैसी मुसीबत उन्हें झेलनी पड़े, पर अपनी चाल-ढाल से न डिगें। अपने कपड़े पहनने और अपना खाना खाने में दूसरों के सामने ज़रा भी न सकुचें, वरन् इसीमें अपनी प्रतिष्ठा समझें ।

—(नवीनानन्द 'सेवा')

भारतवर्ष के स्काउटों (बाल-चर-सेवकों) में भी अपनी स्वदेशी चीज़ों और स्वदेशी रहन-सहन में पूर्ण अनुराग होना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं कि हमारे स्काउट विदेशियों से घृणा करें, बल्कि यह कि उन से प्रेम रखते हुए भी अपनी देश-भक्ति को न भूलें। हमारे स्काउट-मास्टरों ने यदि अपने बच्चों के हृदय को स्वदेशाभिमान से न रँग दिया तो निश्चय ही उन्होंने अपना और उन बच्चों का समय अकारथ खोया। वह दिन हमारे

सब के लिये बड़े हर्ष का दिन होगा जब हम प्रत्येक भारतीय बालक के यहाँ देखेंगे कि उसके कमरे में स्वस्ति का, अर्द्धचन्द्रवाला झण्डा एवम् भारतमाता का चित्र लगा है, और वह देशभक्ति के पवित्र गीतों का गान करता है। स्काउट-मास्टर अपने बच्चों को इस तरह भी देशभक्ति सिखा सकते हैं।

—(**नवीनानन्द, 'सेवा'**)

हां! आप और सभी जनों को नित्य उत्साहित करो।
उत्पन्न तुम जिसमें हुए उस देश का कुछ हित करो॥

बाल-चरों में देशभक्ति पैदा करने के लिये हमको चाहिये कि उसे अपने देश की चाल-ढाल, देश की भाषा, देशी भोजन, देशी वस्त्र तथा अपने देश के वीर पुरुष और स्त्रियों के प्रति हार्दिक प्रेम रखना सिखा दें। परन्तु ऐसा करने के लिये स्काउट-मास्टर (बालचर-शिक्षक) को स्वयम् आदर्श बनना पड़ेगा।

—(**नवीनानन्द 'सेवा'**)

देश-सेवा में सदा तुम ध्यान दो।

देखो उधर, स्वयंसेवक-दल देशहितैषी आता है।
बढ़िया की भीषण घटना में तन मन से लग जाता है॥
दक्षिण, ~~बङ्ग~~, बिहार, उड़ीसा, युक्तप्रान्त मिल जाते हैं।
एक हृदय से, एक शक्ति से अपना दुःख मिटाते हैं॥१॥

कीचड़, कंकड़, कण्टक, विषधर, बाधाओं पर दृष्टि नहीं ।
दुस्तर इन्हें समुद्र नहीं है, दुस्सह आँधी वृष्टि नहीं ॥
धन्य धन्य ये वीर युवक, इन में पैठा परमेश्वर है ।
आर्त-त्राण-परायण में नारायण में क्या अन्तर है ? ॥२॥
चरण तले मैया के मिल कर दीक्षा ग्रहण करो आओ ।
प्रेम-खड्ग से पशु-प्रवृत्ति की भेंट चढ़ाओ वर पाओ ॥
काल-कुण्ड में तेज-अग्नि रख उद्यम का इन्धन धर दो ।
दुर्मति दुर्गति दुख दरिद्रता सब उसमें स्वाहा कर दो ॥३॥
जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसल्मान सिख ईसाई ।
कोटि कण्ठ से मिल कर कह दो हम सब हैं भाई भाई ॥
पुण्यभूमि है, स्वर्णभूमि है, जन्मभूमि है देश यही ।
इससे बढ़ कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं ॥४॥

—"कविकमलाकर" पं० रूपनारायण पाण्डेय ।

(सरस्वती)

मनुष्य उस समय तक ईश्वर में लीन होने के आनन्द को अनुभव नहीं कर सकता जबतक वह मातृभूमि के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को मिटा न दे और जातीय अभिमान उसके रोम रोम में व्याप्त न हो जाये। भारत के प्रत्येक पुत्र को समस्त देश की सेवा के लिये तत्पर रहना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक भारतपुत्र भारतमाता का मूर्तिमान स्वरूप है।

—स्वामी रामतीर्थ ।

देश-सेवा से तुम ने क्या समझा ? क्या नदी, पहाड़, जंगल, खेत, बाग़ और इमारतों की सेवा करने से ही देश-सेवा का काम पूरा हुआ समझ लेते हो ? नहीं, वैसा मत समझो। तुम भूलते हो। जड़ देश तो तुम्हारी सेवा करने के लिये बना है। जड़ देश की प्राकृतिक शोभा पर मुग्ध हो कर तुम प्रेम और अभिमान से फूल सकते हो। किन्तु देश-सेवा तो, असल में, देश में बसनेवाले प्राणियों की सेवा का ही नाम है। देश के छोटे-बड़े और साहाय्यापेक्षी भाइयों की उचित सेवा ही यथार्थ देश-सेवा है !

—तरंगिणी (काशी)

विश्व-सेवा।

विश्वात्मा जो परम प्रभु है
रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता
बेलियाँ वृक्ष नाना॥
रक्षा पूजा उचित उनका
यत्न सन्मान सेवा।
भावों सिक्ता परम-प्रभु की
भक्ति—सर्वोत्तमा है॥

"प्रियप्रवास।"

जो पिता की सेवा करना चाहें उन्हें उनकी सन्तान की सेवा पहले करनी पड़ेगी। जो महादेव जी की सेवा-पूजा करना चाहें

उन्हें महादेव जी की सन्तान की सेवा सब से पहले करनी पड़ेगी, पहले जगत् के प्राणियों की सेवा करनी होगी। शास्त्रों में लिखा है जो लोग भगवान के दासों की सेवा करते हैं वे ही भगवान के श्रेष्ठ दास हैं।

—स्वामी विवेकानन्द।

प्राचीन सनातनधर्म के अनुसार समस्त सृष्टि ही विश्व-रूप भगवान की देह मात्र है। तो फिर इस संसार की सेवा करना ही भगवान की सेवा करना है। लोक-सेवा ही ईश्वर की सच्ची आराधना है। यों तो भक्तिभाव से की हुई सब प्रकार की सेवाओं को ईश्वर ग्रहण कर लेता है परन्तु यदि मनुष्यमात्र को उसका स्वरूप समझ कर उसकी सेवा की जाय तो वह सेवा ईश्वर बहुरूप में ग्रहण करता है।

—"सेवक"।

जब तक संसार में कीट-पतंगादि तक की मुक्ति न हो जायगी, मैं मुक्ति नहीं चाहता।

—महात्मा बुद्धदेव।

नाना-प्राणी तरु गिरिलता बेलि की बात ही क्या।
जो हैं भू में गगनतल में भानु से मृत्कणों लौं।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य नाम्नी॥

"प्रियप्रवास।"

संसार में मनुष्य, पशु, पत्ती, कीट, पतंग इत्यादि छोटे से बड़े तक सभी जीव ईश्वर के उत्पन्न किये हुए हैं और उसको समान भाव से प्रिय हैं। अतएव, इनकी सेवा करना और इनको सुख पहुँचाना ही भगवान की यथार्थ सेवा करना है।

—"सेवक"।

जो इस संसार को ईश्वर का विराट रूप समझ कर चराचर की सेवा में रत रहता है वही परम योगी है। विश्व जगत के जीवों का कल्याण तथा उद्धार करने से बढ़ कर दूसरी कोई तपस्या नहीं है।

—स्वामी रामकृष्ण परमहंस।

जहाँ तक हो सके नेकी करो।

कहते हैं एक साल न बारिश हुई कहीं,
गरमी से आफ़ताब की तपने लगी ज़मीं।
था आस्मान पर न कहीं अब्र का निशाँ,
पानी मिला न जब तो हुईं खुश्क खेतियाँ।
लाले पड़े थे जान के हर जानदार को,
उजड़े चमन तरस से तरसते बहार को।
मुँह तक रही थी खुश्क ज़मीं आसमान का,
उम्मेद साथ छोड़ चुकी थी किसान का।

बारिश की कुछ उम्मेद न थी इस ग़रीब को,
यह हाल था कि जैसे कोई सौगवार हो ।
इक दिन जो अपने खेत में आकर खड़ा हुआ,
पौदों का हाल देख के बेताब हो गया ।
हर बार आसमाँ की तरफ़ देखता था वह,
बारिश के इन्तज़ार में घबरा रहा था वह ।
नागाह एक अब्र का टुकड़ा नज़र पड़ा,
लाती थी अपने साथ उड़ा कर जिसे हवा ।
पानी की एक बूँद ने ताका इधर उधर,
बोली वह उस किसान को हाजत को देख कर ।
वीरान हो गई है जो खेती ग़रीब की,
है आसमान पर नज़र उस बदनसीब की ॥
दिल में यह आरज़ू है कि इसका भला करूँ,
पानी बरस के खेत को इसके हरा करूँ ।
बूँदों ने जब सुनी यह सहेली की गुफ़्तगू,
हँस कर दिया जवाब कि अल्ला रे आरज़ू !
तू एक ज़रा सी बूँद है इतना बड़ा यह खेत,
तेरे ज़रा से नम से न होगा हरा यह खेत ।
तेरी बिसात क्या है कि इसको हरा करे,
है ख़ुद जो हेच क्या वह किसी का भला करे ?
उस बूँद ने मगर यह बिगड़ कर दिया जवाब,
बोली वह बात जिसने किया सबको ला-जवाब ।

माना कि एक बूँद हूँ दरिया नहीं हूँ मैं,
क़तरा ज़रा सा हूँ कोई छींटा नहीं हूँ मैं।
माना कि मेरा नम कोई दरिया का नम नहीं,
हिम्मत तो मेरी बह्र की हिम्मत से कम नहीं!
नेकी की राह में कभी हिम्मत न हारिये,
मक़दूर हो तो उम्र इसी में गुज़ारिये।
कुरबान अपनी जान करूँगी किसान पर,
क्या लूँगी मैं ठहर कर यहाँ आस्मान पर?
नेकी के काम से कभी रुकना न चाहिये,
इसमें किसी के साथ की परवा न चाहिये।
लो मैं चली यह कह के रवाना हुई वह बूँद,
बूँदों को अंजुमन में यगाना हुई वह बूँद।
टप दे सी उसकी नाक पै यह बूँद गिर पड़ी,
सूखी हुई किसान के दिल की कली खिली।
देखा सहेलियों ने तो हैरान हो गयीं,
हिम्मत के इस कमाल पर की सब ने आफ़रीं।
बोलीं कि चाहिये न सहेली को छोड़ना,
अच्छा नहीं है मुँह को रिफ़ाक़त से मोड़ना॥
साथी के साथ सब को बरसना ज़रूर है,
गर हम न साथ दें तो मुरौवत से दूर है।
यह कह के एक साथ वह बूँदें रवाँ हुईं,
छींटा सा बन के खेत के ऊपर बरस गईं।

क़िस्मत खुली किसान की बिगड़ी हुई बनी,
सूखी हुई ग़रीब की खेती हरी हुई।
फिर सामने नज़र के बँधा आस का समाँ,
थी आस आस पास गया यास का समाँ।
उजड़ा हुआ जो खेत था आख़िर हरा हुआ,
सारा यह एक बूँद की हिम्मत का काम था।
देखी गई न उससे मुसीबत किसान की,
बेताब हो के खेत पै उसके बरस गई।
नन्हीं सी बूँद और यह हिम्मत खुदा की शान!
यह, फ़ैज़, यह करम, यह मरौवत खुदा की शान!

—"सरस्वती" (प्रयाग)

स्वर्गीय प्रेम-पुजारी

कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन (प्रेम-मन्दिर, आरा)

के

माननीय विद्यागुरु

श्रीमान् जौर्ज सिडनी अरण्डेल महोदय

की

"The way of Service"

नामक

अँग्रेज़ी-पुस्तिका

का

आधार-भूत स्वतन्त्र अनुवाद

"सेवा-धर्म"

उनकी स्वर्गीय आत्मा के सन्तोष-लाभार्थ

उनके एक प्रिय मित्र द्वारा

सुसम्पादित

और

एक धर्मबन्धु द्वारा

प्रकाशित

मातृ-चरणेषु !

⚜ ⚜ ⚜

प्रेम एव परो धर्मः प्रेम एव महत्तपः ।

"Let him that is chief be as him that doth serve."

—Proverb.

"Let there be many windows to your soul, that all the glory of the universe may beautify it."

—Poems of Passions.

"आगम निगम प्रसिद्ध पुराना ।
सेवक-धर्म कठिन जग जाना ॥"

—गोस्वामी तुलसीदास ।

"प्रेम का मुख्य धर्म निस्वार्थ विश्वसेवा है। प्रेम का मुख्य उद्देश और आदेश आत्म-समर्पण है। प्रेम का परिणाम है सर्व-व्यापी सुख।"

—कुमार देवेन्द्र ।

भानु पीठ सेइय उर आगी।
स्वामिहिं सेइय सब छल त्यागी॥

—रामचरितमानस ।

"Universal Brotherhood is the only aim of my life."

—Devendra.

विश्व-सेवा-विषयक विमल विचार ।

यदि तुम दूसरों की सेवा करने की इच्छा रखते हो, जिसमें उन लोगों की भलाई है और तुम्हारी कुछ हानि नहीं है, तो तुम्हें निम्नलिखित तीन नियमों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये—

(क) विश्वसेवा करना ही तुम अपने मन का सर्वोत्तम आनन्द जानो।

(ख) अपने को तुम उस महती बलीयसी शक्ति से प्रेरित होता हुआ समझो जो तुम्हें विश्वसेवा करने को प्रेरित करती है।

(ग) तुम दूसरों में भी उसी दैवी प्रकृति का विकाश अनुभव करो जो स्वयं तुम में भी है ।

स्मरण रखो कि जो कुछ तुम दूसरे के विषय में कहते या सोचते हो, सम्भव है, कि पहले ही से दूसरा भी तुम्हारे विषय में उसी प्रकार की बात कह या सोच चुका हो ।

यदि तुम्हें कोई कष्ट दे तो जान लो कि कष्ट देनेवाला पीड़ित प्राणी से कहीं अधिकतर दुःख उठाता है ।

अपने प्रेम की शक्ति द्वारा अपनी तथा दूसरे की मानसिक स्थिरता विचलित न करो । तुम्हारी सेवा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़नी चाहिये न कि घटनी ।

सेवा करने में दूसरे की अधिक शक्ति देख कर जी में कुढ़ो मत, बल्कि प्रसन्न हो कि ऐसा भी पुरुष विद्यमान है जो उन लोगों की सहायता कर सकता है जिन्हें तुम्हारी परिमित शक्ति सहायता नहीं पहुँचा सकती ।

जब कुछ दान करो तो इस आशा से नहीं कि पाने वाला ही उसे लेकर सुखी हो । तुम्हें स्वयं उस समय अधिक आनन्द अनुभव करना चाहिये जब तुम यह देखो कि तुम्हारे दान देने से दानपात्र ही नहीं बल्कि दूसरे भी आनन्दित हो सके हैं ।

जब तुम दूसरे की सहायता करने लगो तो ठीक उसी आदर्श पर अपने को बनाओ जिससे तुमने सेवा करने की शक्ति पाई है । इससे तुम अपने आदर्श तक पहुँच सकोगे और सहायता भी खूब अच्छी तरह से पहुँचा सकोगे ।

देखो,—सेवा की रीति सीखो, विश्व की सेवा करने ही से चन्द्रमा का मुख उज्ज्वल है, गंगा का तल शीतल है, मेघ का ख़ज़ाना अघट है ।

यदि सच्चा सेवी बनना चाहो तो निष्काम सेवा करो अर्थात् अपनी की हुई सेवा के फल की आशा न रखो । सेव्य पुरुष के कृतज्ञतासूचक वचन सुनने की कामना न करो । समझो,—जिस प्राणी की तुम सेवा करते हो उसके शरीर की नहीं बल्कि उसकी अन्तरात्मा की सेवा करते हो । यद्यपि सेव्य पुरुष के होंठ भी नहीं हिलते तथापि वह शुद्धान्तरात्मा अपनी कृतज्ञता गुप्त रीति से तुम पर जता रही है ।

जिसे तुम प्यार करो—उसके प्यार की इच्छा न रखो। यदि तुम्हारा प्रेम सच्चा होगा तो, आज हो या कल, उसके अन्तःकरण में ध्रुवमेव प्रवेश कर जायगा और उसका प्रेम झट तुम्हारे प्रेम के गले का हार बन जायगा। अगर तुम्हारा प्रेम चन्दरोज़ा हो तो भला होगा कि यह रहस्य तुम उस पर कभी प्रगट न करो जिसमें तुम्हारे श्लाघ्य प्रेम के हट जाने से किसी दिन उसे मर्मवेदना अनुभव न करना पड़े।

स्मरण रखो—चेत लो—जो अपने को संयत नहीं रखता वह कभी विश्वसेवा नहीं कर सकता। सेवा किये मेवा* मिलता है, अतएव माना गया है कि सेवा भवसागर की नौका का खेवा* है—वैकुण्ठ के बटोहियों का कलेवा है।

सच्ची सेवा वही है जो भार (बोझे) को हलका कर दे—यह नहीं कि उसे एकदम हटा ही दे।

तुम तभी औरों की पूरी सहायता कर सकोगे जब तुम उन्हें अपने अपने आदर्श पर गठित हुआ समझ कर स्वीकार करोगे।

मनुष्य में जो उत्तम गुण है उसीसे वह दूसरे की सेवा सहायता करने में समर्थ है। सेवा की उतनी ही भाँतियाँ संसार में हैं जितने सहाय्यापेक्षी मनुष्य हैं।

सुरभित सुन्दर सुमनों का सौरभ लेकर सर्वसाधारण को घ्राणामोद पहुँचानेवाली हवा को और ग्रीष्मातपक्लान्त तृषार्त्त पथिक

---

* "मेवा नीकी काबुल की सेवा नीकी राम की"—श्रीपति

* खेवा=भाड़ा, नाव का किराया।

को सुखाश्रय देनेवाले शीतलजलान्वित कूप को गोदी में लिये हुए सघनविशाल वटवृक्षदेव को—इन दोनों सेवा-पथ के पथिकों को—आदर्श बनाकर चलो ।

विचारो,—दिन का एक एक मुहूर्त्त सत्सेवा के लिये है, कारण, यद्यपि प्रतिक्षण दयापूर्ण कार्य्य करने का अवसर नहीं प्राप्त हो सकता है तथापि दयार्द्रभाव बनाये रखने का शुभ अवसर हरघड़ी सामने रहता है ।

मनुष्य जितना ही अपने (सुख के) विषय में कम विचार करेगा उतना ही वह अपनी उन्नति का सहायक हो सकेगा । सेवा का छोटा से छोटा कार्य्य भी—सेवी के समक्ष—विश्वसेवा-भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि के रूप में दिखाई देता है ।

यदि कोई मनुष्य तुम्हारी सेवा उस रूप में अंगीकार नहीं करता है जिस रूप में तुम देना चाहते हो तो कोई दूसरी (नई रीति) राह निकालो । तुम्हारी मनोकामना तो यही रहनी चाहिये कि किसी प्रकार सेव्य पात्र की उचित सेवा बन पड़े । उसके प्रति तुम्हें यह कदापि प्रगट न करना होगा कि किस प्रकार तेरे द्वारा उसकी योग्य सेवा की जायगी ।

किसी की सेवा करने में लज्जित मत हो । चाहे वह तुम्हारा परिचित हो वा अपरिचित । उसकी आवश्यकता (चाह-दरकार) तुम्हें उसका भाई बना देती है, किन्तु तुम्हारी लज्जा एक प्रकार का मोहमय गर्व है जो आवश्यकता पड़ने पर एक सहायक से—उसे वंचित कर डालती है ।

अपने मन में कभी ऐसी भावना न आने दो कि तुमने आज औरों की कुछ सहायता की है, बल्कि यही सोचते रहो कि, तुम और अधिक सहायता किसी को पहुँचा सकते हो या नहीं। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखो कि इस प्रतारणामूलक संसार के कितने प्राणियों का कष्ट निवारण करने में तुमने सहायता पहुँचाई है अर्थात् तुम्हारी सेवा द्वारा कितने दुःखी जीव सुख प्राप्त कर सके हैं।

जो लोग सद्गुरु के सच्चे शिष्य हैं वे ही लोग (समाज के) नेता हो सकते हैं क्योंकि जो आज्ञा-पालन करना नहीं जानता वह कदापि दूसरे को अपनी आज्ञा का वशवर्त्ती नहीं बना सकता।

यदि किसी मनुष्य को तुम अपनी सलाह मानने को बाध्य करना चाहते हो तो पूर्व ही से तुम स्वयं उसके सदुपदेशों के अनुसार चलने लग जाओ।

निष्कलंक एवं अनवद्य कार्य्य तुम तभी सम्पादन कर सकते हो जब तुम अपनी प्रशंसा या कीर्त्ति का विचाराङ्कुर अपने मानसक्षेत्र से एकदम ध्वंस कर दोगे। संसार में अमर होना चाहो तो बिना किसी लाग-लपेट वा स्वार्थ के अपनी सेवा व्यय करते जाओ। यदि सज्जनों द्वारा अपने अच्छे कार्य्य और विचारों के बदले में तुम अपनी प्रशंसा चाहते हो तो दूसरों के अच्छे कार्य्य और विचारों पर अपना हार्दिक हर्ष और अपनी प्रशंसावादिनी सम्मति प्रकट किया करो। अपनी भलाई चाहते हो तो दूसरों की भलाई करने का दृढ़ व्रत धारण कर लो।

जब तक मनुष्य अपने को (अपनी ही करणी से) नीचा नहीं बना देता तब तक वह कभी अपने कार्य्यों के करने में लज्जित नहीं हो सकता! कारण यह है कि लाञ्छन मनुष्य की नीचातिनीच प्रकृति का फल है—वह कभी सपने में भी उदारहृदय पुरुष को नहीं छू सकता।

एक आम का वृक्ष है—अपने पल्लवाञ्चल को डुला डुलाकर अभ्यागत पथिकों को पंखा झलता है—अपने हाथ पर बैठी हुई कोयल से दूर दूर के पथिकों को हँकारने को कहता है—आगत अतिथियों को दतौन (दन्तधावन)—शीतल छाया—पल्लव का दोना (जलपात्र)—देकर सादर स्वागत करता है—मधुर मधुर फल चखाता है—पत्थर की चोट सहकर भी अमृत की घूंट* पिलाता है। बस, अपना सर्वस्व व्यय कर देने पर—जीर्णावस्था प्राप्त होने पर यज्ञ का समिध बनकर सेवा करता—पाक प्रस्तुत करने के लिये अपनी देह जलाता—कोयला बनकर भी सोने का मल धोता और अपनी उस खाक (भस्मराशि) में से भी किसी की जीविका उपजाता। अहा! धन्य! ठीक, उसी की मूर्त्ति अपने सामने आदर्श रूप से रख लो, "तुल्य निन्दा समोस्तुतिः" का अर्थ जान लो, और, सेवापथपर बेखटके अग्रसर होते चले जाओ।

जब तुम्हारे मन में यह निकृष्ट विचार अंकुरित हुआ कि तुम

* "तुलसी" सन्त सुअम्ब तरु, फूलि फलहिं परहेत।
इत ते ये पाहन हनत, उत ते वे फल देत॥

विश्वसेवा करने में समर्थ और तुम्हारे देखने में दूसरा कोई तुमसे बढ़कर विश्वसेवक नहीं है उसी दम तुम्हें भली भांति समझना चाहिये कि तुम सच्ची सेवा से सैकड़ों कोसों की दूरी पर हो।

सच्ची सेवा इसी में है कि तुम अपने जीवन को दूसरे के जीवन के साथ मिला दो। चाहे किसी तरह से हो—यह प्रकट करने की चेष्टा कदापि न करो कि तुम एक अनुकरण योग्य पुरुष हो।

अच्छा यही है कि पहले काम करो तब कुछ बोलो। यह नहीं कि काम करने के पहले ही बक बक करने लगो। सबसे अच्छी बात तो यही है कि कार्य्य करो और एक दम चुप हो रहो।

मनुष्य की—सेवा करने की—योग्यता उसके दैनिक गृहकार्य्य (दिनचर्य्या—डायरी) देखने से समझी जा सकती है न कि उसकी लिखी पुस्तकों से, न यशःसौरभ से, न उसकी झाड़ी हुई सर्व-साधारण के समक्ष वक्तृताओं से अथवा न उसके अन्य कार्य्य-कलाप से। सर्वसाधारण के लिये किये हुए महत्कार्यों से कोई महान पुरुष नहीं हो सकता बल्कि छोटे छोटे नित्य के कार्य्यों में आत्मत्याग का ज्वलन्त उदाहरण पाने से—जो सब लोगों को ज्ञात तक नहीं हैं—बड़े और भले आदमी की सच्ची पहचान हो सकती है।

जो विश्वसेवा करने को तत्पर होता है उसे अपना सर्वस्व सेवा-हित में अर्पण करने को प्रस्तुत रहना चाहिये—जिससे वह सच-मुच 'विश्वसेवक' कहलाने का अधिकारी हो।

एक आदमी अपनी सहायता तुमसे हज़ार तरह से ले सकता

है पर तुम्हारी उचित सहायता वही है कि उसकी आवश्यकता के अनुसार तुम उसकी मदद करो, केवल उसकी इच्छा ही के अनुसार नहीं। समय २ पर वह इस विषय में तुमसे कुछ रुष्ट भी हो सकता है, परन्तु तुम यही चेष्टा करते रहो कि तुम्हारी सेवा का ढंग उसकी स्वीकृति के उपयुक्त हो।

जो मनुष्य वस्तुतः सेव्य है—जिसे सहायता दरकार है—उसे छोड़ कर यदि अन्यान्य की सेवा सहायता की गई तो वह कदापि सच्ची सेवा नहीं है। सेवा की सच्ची राह से विपथ होकर अनेक मनुष्य सेवक बनने की चाह रखते हैं—जिन्हें सेवा सहायता की आवश्यकता नहीं है उनकी सेवा में तत्पर होना चाहते हैं, और जिन्हें सेवा सहायता की चाह है उनकी ओर उदासीनता एवं असावधानता फेंक देते हैं।

तुम्हारी की हुई सेवा जितनी ही उत्तम होगी तुम्हारा जीवन उतना ही सेव्य (आदर्श) हो जायगा।

संसार में ऐसा कोई नहीं है जो किसी प्रकार की सहायता न चाहता हो और ऐसा भी संसार में कोई व्यक्ति नहीं जो दूसरों की कुछ सहायता न कर सके।

जब तुम दूसरों की सेवा करने लगो तब उसकी (सहायता की) आवश्यकता देख कर अधीर मत हो जाओ। यदि उसे कोई आवश्यकता नहीं आ पड़ती तो तुम्हें सेवा करने का अवकाश ही कहाँ प्राप्त होता। यही मनसूबा रखो कि बहुत लोग तुम्हारी सेवा से सुखी हो सकें। जैसे ऐसा कोई क्लेश नहीं है जो भावी आनन्द

का सूचक न हो—(ऐसी कोई रात्रि नहीं जिसके पश्चात् सौम्य सूर्य्योदय न हो—ऐसा कोई बादल नहीं जिसके पीछे पूर्णेन्दु न छिपा हो)—ठीक उसी प्रकार ऐसी कोई आवश्यकता या चाह नहीं है जिसकी किसी न किसी दिन पूर्ति न हो जाय—ऐसा कोई दोष नहीं जिसका कभी सुधार या संशोधन न हो सके।

जब तुम दूसरे किसी की सेवा में रत हो तब इस बात का पूरा ध्यान रखो कि यदि तुम्हारी सेवा शुद्ध और सच्ची होगी तो उसके दोषों का वेग भी मुड़ कर आगे (भविष्य में) सत्पथ की ओर प्रवाहित होने लगेगा। तुम उसकी गमन-शक्ति का प्रतिरोध नहीं कर सकते किन्तु तुम्हें उसके रूप और उसकी चाल के परिवर्त्तन में सचेष्ट होना पड़ेगा।

तुम्हारा यदि विचार है कि जिस दशा में तुम हो उससे भी कहीं उत्तम दशा में होते तो विश्व की अच्छी सेवा कर सकते और अपनी वर्त्तमान दशा के अनुसार तुम यथाशक्ति अखिल विश्व की सेवा में अपनी क्षुद्र शक्ति का सदुपयोग कर रहे हो तो तुम्हारी सेवा करने की पहली बड़ी चिन्ता ही इस दूसरी सेवा से कहीं बढ़ चढ़ कर है। सेवा करने की लालसा है पर सामग्री का अभाव है तो उस प्रथमांकुर की रक्षा करो और उसकी सहायता ले लेकर दूसरों की सहायता करो।

जिन गुणों के अभाव से दूसरा कोई विश्वसेवा से वञ्चित है उन्हीं सद्गुणों की मात्रा बढ़ा कर तुम दूसरों की अनन्य सेवा कर सकते हो।

नित्यप्रति की हुई अपनी सेवा का यदि मूल्य समझना चाहते हो तो विचार करके देखो कि तुम दिन दूना रात चौगुना अधिक सुखी, सन्तुष्ट, शान्तिप्रिय, प्रसन्न और विशोक होते जाते हो या नहीं। जो नित्य प्राणीसमुदाय की सेवा में लीन रहेगा उसके सामने कहाँ शोक ? कहाँ परिताप ? कहाँ रोग ? कहाँ बन्धन चतुर्दिक्-शान्ति !!!

संसार तुमसे तुम्हारी पूर्ण शक्ति के अनुसार सेवा माँगता है--दूसरों से नहीं--तुम्हें यहीं सोचना उचित है। जितनी अच्छी शक्ति तुम्हें मिली है यदि उसका पूर्णरूप से तुम सदुपयोग कर रहे हो--तो समझ लो कि--जो कुछ तुम्हारा उचित कर्त्तव्य है उसका पालन तुम भली भांति कर रहे हो।

जिसकी सेवा करने की तुम श्रद्धा रखते हो पर तुम्हारी सेवा वह किसी प्रकार स्वीकार नहीं करता तो एक दो बार की बात भूल जाओ, किन्तु सदा अपनी सेवा की अस्वीकृति को मार्जनीय मत बना डालो। देखते रहो--जो तुम्हारी सेवा करने की चाह से भरे हुए हृदय को फटकार धुत्कार बतलाता है--एक दिन वही ऐसी आवश्यकता की तह-पेच में पड़ जायगा कि तुम्हारी सेवा से भी अत्यधिक सहायता की चाह उसे घेर लेगी।

निस्स्वार्थता पूर्वक जो प्रेममयी सेवा दूसरों के द्वारा तुम्हारी की गई हो--उसका तिरस्कार मत करो, उसकी ओर उदासीनता न प्रकट करो--सावधान ! विचार करो कि सेवा करने में जितनी सहृदयता की आवश्यकता है उतनी ही सेवा प्राप्त करने में भी।

जब तुमने, जितनी तुम में शक्ति थी उतनी ही प्रवीणता और उदारता से सेवा की है तो उसके परिणाम के लिये लालायित न रहो, क्योंकि तुम्हारी सेवा की पवित्रता सुख-शान्ति के रूप में परिणत होकर सेवक के (तुम्हारे) पास लौट कर चली आवेगी और सेव्यपुरुष के चारों ओर सन्तोष छा जायगा।

प्रेम का केन्द्र सुविस्तृत बनाने की शक्ति तथा तदनुसार सेवा करने की क्षमता—यही सेवा के आदर्शभूत परिणाम हैं। प्रेम बिना सेवा कैसे होगी? सुगन्ध विना पुष्प मनमुग्ध क्योंकर कर सकेगा? जो मनुष्य वास्तविक सुखी नहीं है वह दूसरों को कहाँ तक सुखी बनाने में समर्थ हो सकेगा?

सेवा यदि प्रेम भरे हृदय से की गई हो, चाहे वह अज्ञानता भरी ही क्यों न हो, उस सेव्य-पुरुष की कुछ भी हानि नहीं कर सकती। प्रेम की शक्ति उसे अज्ञानता-जनित हानि से बचा लेगी।

कभी कभी हम लोगों का यह कर्त्तव्य हो सकता है कि हम लोग दूसरों की जाँच करें अर्थात् सेवा की रीति देखें भालें; किन्तु साथ ही साथ हम लोगों का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि जहाँ त्रुटि पावें वहाँ पूरी पूरी सहायता पहुँचावें।

यदि तुम आध्यात्मिक उन्नति की जाँच करने की इच्छा रखते हो तो ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया करो कि पहले से अब तुम सेवा करने में चूक तो नहीं कर रहे हो, तुम्हारी सेवाप्रणाली कुछ क्षीण तो नहीं होती जाती है।

जो सम्भ्रान्त पुरुष दोषी का दोष क्षमा करता है उसकी ऐसी

दयाभरी चेष्टा, उत्सुकता और प्रीति केवल दोषी के हृदय की निर्बलता, भविष्य में, दूर करने के लिये ही होती है जिससे कि वह लज्जा, सङ्कोच और पश्चात्ताप में पड़ कर फिर क्षमा माँगने योग्य कोई अपराध न करे! यह भी किसी तरह एक प्रकार की सेवा-शिक्षा हुई।

तुम जब दूसरे की सेवा की रीति की समालोचना करते हो तो तुम्हारी सरासर भूल है। शायद वह उन व्यक्तियों की सेवा उनके मन-चाहे ढङ्ग से कर रहा हो जिन लोगों तक तुम्हारी सेवा वास्तविक रूप में पहुँच न सकी हो।

विश्वसेवकों की ओर से जो तुम्हें सेवा करने की शिक्षा प्राप्त हुई है उसका मूल तत्त्व प्रकाश करने में भयभीत मत हो, क्योंकि अपने आनन्द के उद्भव स्थान का यथार्थ ज्ञान हो जाना एक अतिशय सुन्दर उपहार है जो संसार के समक्ष तुम उपस्थित कर सकते हो।

प्रेममयी सेवा जो तुम दूसरे की करते हो तो वह सेवा-रूपिणी स्वर्गीय देवी तुम्हारे सेव्य व्यक्ति की सर्वदा सर्वत्र रक्षा किया करती है। सेवा देवी के युगल चरणों पर जितना ही प्रेमामृत का अर्घ्यदान देते जाओगे उतना ही वह तुम्हें सर्व-प्रिय बनाती हुई सेव्य पुरुष को तुम्हारी सेवा सादर सानुराग स्वीकार करने के लिये उत्साहित करती रहेगी।

यह मत समझ बैठो कि केवल वही लोग सेवा करने में दक्ष हैं जिनकी सेवा-रीति चर्मचक्षुगोचर है। सेवा के महतो महीयान्

कार्य्य वही हैं जो सर्वथा अगोचर हैं। बड़ों की बात तो जाने दीजिए; भला कहिये तो कि* गङ्गा की ही सेवा-प्रणाली अन्तरीक्ष होने पर भी कैसी सुहावनी और कितनी सुखदायिनी है?

जो सेवा तुम्हें आज सुलभ हुई है उसे कल के लिये मत रख छोड़ो। ऐसा करने से तुम सेवा के उचित सुअवसर को सुचारु-रूपेण व्यवहृत करने से चूकते हो। हो सकता है कि कल उस सेवा की आवश्यकता नहीं रहे जो आज किसी तरह पूरी नहीं हो सकी।

जितने सेवा-प्रार्थी-जन तुम्हारी सत्सेवा के भाजन बनने के लिये आते जायँ उन प्रत्येक की ओर अपना सम्पूर्ण ध्यान दृढ़ रूप से लगा दोगे तो शायद आगे आनेवाले सेवा चाहनेवालों की ओर उतनी ही प्रेम-दृष्टि न पड़ सके। सेवा का क्षेत्र विस्तृत करो—संकुचित अवस्था में मत रहने दो। तुम्हारी सेवा तो उसी समय अर्द्धसफलीभूत हो गई जब कि तुमने सानुकूल हो सेवार्थी की प्रार्थना सुन ली।

जब तुम दुःखी रहो तो इस बात को कभी मत भूलो कि तुम बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए एक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर रहे हो जिसके द्वारा तुम्हें दूसरों के दुःख के साथ सहानुभूति दर्शाने की शक्ति प्राप्त होती जाती है। अपने

---

* काहू ने न तारे ताहि गंगा तुम तारे, आज जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं—"पद्माकर।

शोकाकुल हृदय की मर्म-वेदना और पीड़ित प्राण की दुरवस्था का विचार करके तुम्हें अच्छी तरह से दूसरे दुःखी जनों के साथ समप्राणता प्रकट करने और समवेदना प्रकाश करने की रीति सीखनी चाहिये।

सेवा-प्रणाली दो प्रकार की है। एक सुख-सनी—दूसरी कुछ दुःखमिश्रित। सच्चे सेवक लोगों को इसका पूर्ण अनुभव प्राप्त है। दुःख तो घी से भी चिकना, रूई से भी हलका और दूध के फेन से भी कोमल मालूम पड़ता है किन्तु केवल उन्हीं लोगों को जो प्रेम के सहारे से ही सेवा करते हैं। सेवा करने के समय जो दुःख होता है वह सुख का प्रतिविम्ब है।

हो सकता है जितना तुम अपनी सेवा-रीति पर ध्यान रखते हो उतना संसार तुम्हारी सेवा के ऊपर न रखता हो। तो इससे क्या? तुम अपने सत्पथ पर अचल होकर अग्रसर होते जाओ।

बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जो कतिपय स्थानों में सेवा के लिए पहुँचने को उत्सुक हैं, किन्तु, भला ऐसे कितने हैं जो सब जगह सर्वदा सेवा के लिये प्रस्तुत रहने के इच्छुक हों?

यदि चतुर्दिक् तुम्हारी अपकीर्त्ति फैल रही है तो बड़ी आवश्यकता है कि तुम सेवा-व्रत को धारण करके अपनी कीर्त्ति का शृङ्गार करो।

जिस प्रकार मरुस्थल में मुकुलित मञ्जुल मल्लिका मिल जाती है, उसी प्रकार संयोगवश असमय में, भदेसकुदेश में भी, आवश्य-

कता पड़ने पर, सच्ची सेवा मिल जाया करती है। दोनों का सम्मान एक सा है।

स्वार्थपरता से घिरे हुए स्थान में एक छोटी-मोटी सेवा भी उसी उज्ज्वलता के साथ देदीप्यमान होती है जिस प्रकार अन्धकार-पुञ्ज में प्रज्वलित प्रभा की एक पतली सी रेखा।

जिस दशा में तुम वर्त्तमान काल में हो यदि उस समय तुम्हें सेवा करने का सुअवसर प्राप्त न हो सका तो यह निश्चय है कि तुम भविष्य में चाहे किसी (भली या बुरी) दशा में भी क्यों न रहो तुम सेवा करने में सर्वदा असमर्थ बने रहोगे।

वह व्यक्ति इस संसार में नितान्त शून्य, अधम और दुःख-भागी है जो बहुत तरह से अपनी सेवा करा कर भी उसके उप-लक्ष्य में दूसरे की सेवा नहीं करता। यदि तुम्हारे दुःख पर दया करके किसी ने सहायता कर दी तो उस सहायता के बदले में तुम अपने तन-मन-धन से उसकी सेवा कर देने को उद्यत रहो और दया के बदले चिर-कृतज्ञता प्रकट करते रहने की जी में ठान लो।

शारीरिक-संसार में सेवा का नाम कार्य्य वा कर्त्तव्य है, मान-सिक-संसार में सेवा का नाम मेलजोल (एकता की बुद्धि) है और हृदयोद्गार की वस्तुओं में सेवा का नाम सहानुभूति है।

× × × × ×

जैसे दिवस की उज्ज्वलता दिवसेश के प्रकाश पर ही निर्भर है उसी प्रकार तुम्हारे दिन भी सेवा-कार्य्य की प्रभा से ही उदित, मुदित एवं विदित होंगे।

प्रेम, श्रद्धा, उत्साह, सद्विचार और सहानुभूति के रस से सनी हुई सेवा का छोटा सा कार्य्य भी, जो बाल्यकाल ही से अभ्यस्त हो रहा हो, भावी जरावस्था के लिए सुख के कोषागार का ताला खोलने की कुञ्जीस्वरूप है।

जैसे दयावान् और दयापात्र दोनों ही को सुख लाभ होता है उसी प्रकार सेव्य और सेवक को भी।

अपने आपको भूल कर के (आत्म-विस्मृति के साथ) जो दूसरों की सेवा की जाती है उससे अपने आप को परखने की शक्ति प्राप्त होती है।

जो सेवा स्वाभाविक बुद्धि से की जाती है वही सेवा सच्ची और सुहावनी है। जिसमें बनावट की बू-बास न हो बल्कि सर्वाङ्ग में, सर्वतोभावेन, प्रेम ही का आभास, विकास और प्रकाश हो।

सब लोगों के प्रति जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उसको बड़ी मधुरता और कोमलता से प्रकट करो—वही सत्सेवा है। जो लोग तुम से बुद्धिमान् और विवेकी हैं उन लोगों के प्रति आदरपूर्वक प्रेम प्रकट करना, सम्मानपूर्ण स्नेह दर्शाना उचित है। जो लोग अपने से छोटे हैं उनमें प्रीति प्रतीति रखना तथा उनके अरमान पूरे करना—यही उनकी सेवा है।

कुछ लोग अपनी प्रशंसा कराने के लिए तथा दूसरों को प्रसन्न कर के अपनी कीर्त्ति बढ़ाने के लिए सेवा-व्रत को धारण करते हैं, वे अधमाधम हैं।

विशुद्ध मानस वाले मित्र जैसे सुखदायक हैं ठीक वैसे ही

विमल-हृदय वाले सेवक भी सुखवर्द्धक हैं। तुम अपने हृदय की जाँच कर के देखो कि सेवा करने की जो तुम्हारी कामना और बुद्धि है वह कहाँ तक स्वार्थशून्य है।

कभी कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि जिसके बहुत मित्र हैं उसकी सहायता करें किम्वा जो सर्वप्रकारेण सहायक-हीन है और हम लोगों की सहायता की आशा रखता है उसकी। यदि असहाय निरवलम्ब को कोई आधार या आश्रय न मिले तो हम लोगों का सर्वोपरि कर्त्तव्य यही है कि बहुत से सहायकों द्वारा उसीकी सहायता करें।

जो लोग चाहते हों कि दूसरों का व्यवहार-बर्त्ताव हमारे साथ अच्छा और भला रहे तो उन्हें भी दूसरों के साथ वैसा ही बर्त्ताव-व्यवहार रखना चाहिये। जो लोग दूसरों को आश्रय देते हैं उन्हें स्वयं आश्रय मिलता है। जो दूसरों के हित के लिये सर्वस्व दे देता है उसके लिए संसार भर प्राण तक को विसर्जन करने को तैयार रहता है। अपनी सेवा कराने की इच्छा रखने वालों को दूसरों की सेवा करने का व्रत धारण करना चाहिये। जो अपनी भलाई चाहे—दूसरों की भलाई करे, जो सुखी होना चाहे—दूसरों को सुख पहुँचाने की चेष्टा करे।

जो मित्र तुम्हें स्वार्थी समझे उससे किसी प्रकार की प्रार्थना न करो। जो सेवा प्रेममयी नहीं है उसे स्वीकार करने का साहस न करो। जो सहायता स्नेह-सनी न हो उसे ग्रहण तक न करो।

जो वस्तु तुम्हें दिल खोल कर न दी जाय उसे स्पर्श भी मत करो। निष्काम और निष्कपट प्रेम में बोरी हुई सेवा सर्वथा ग्राह्य है।

सच्चे प्रेम की पूर्ण परिचायक वही सेवा-सहायता है जिसकी प्राप्ति के लिए की गई हुई प्रार्थना स्वार्थशून्य समझी गई हो। प्रकृति ही सेवा के सकल कार्य्यों का भली भाँति निरीक्षण करती है किन्तु मनुष्य केवल उन्हीं कार्य्यों का हिसाब रखते हैं जो वे रुचिकर समझते हैं और जिससे उन्हें सन्तोष होता है।

परम्परागत प्रथा की लाज निबाहने के लिए संकोचवश जो सेवा की जाती है वह कच्ची है और स्नेहसुधासिञ्चित सेवा हृदय-ग्राहिणी एवं स्तुत्य है।

अभाव वा आवश्यकता के मुँह से जो आह निकलती है वही दुःख है। वही आह शायद सेवा के मुख से प्रेम बन कर निकलती है।

दूसरे का दोष निरीक्षण करते समय अपनी ओर भी निहार लो। जिस दोष के लिये तुम दूसरे की हँसी उड़ाते हो—वह दोष तुम अपना ही समझ लो; क्योंकि यदि तुम दोष-युक्त नहीं होते तो दूसरे का दोष तुम्हें कदापि नहीं सूझता।

दूसरों के विषय में ऐसी बात कहीं भी मत बोला करो कि उस आदमी के समक्ष वही बात पुनः बोलने में तुम असमर्थ हो जाओ।

विद्या का महत्त्व यही है कि जब वह तुम्हारे पास है तब तुम्हें अपने कुटुम्ब, परिवार और सहवासियों के साथ पूर्ण सहानुभूति है।

जब तक प्रेम का पाठ नहीं पढ़ोगे—तुम्हारी जानकारी दूसरों से नहीं बढ़ सकती। अतएव दूसरों से बढ़ कर सेवा करना सीखो।

जो लोग पूर्णतया विद्यासम्पन्न हैं वे अपनी पूरी जानकारी का गर्व नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि अहंकार में चूर रहने वाले कैसे नीचातिनीच हैं।

यदि तुम्हें दूसरों के ऊपर शासन करने या प्रभुत्व रखने का अधिकार प्राप्त हो तो यह बात भली भाँति स्मरण रखो कि जब तक तुम अपने उच्चपद के गर्व से उन लोगों की सहानुभूति और ठकुरसुहाती सञ्चय करना चाहोगे तब तक केवल तुम्हारी गुणावली ही उन लोगों की प्रीति पर विजय लाभ कर लेगी।

स्तुति करना छोड़ दो—सेवा करना सीखो! मनसा-वाचा-कर्मणा-कृत सेवा का आदर्श गोमाता को समझ लो। सूखी घास खाती पर मधुर दूध खिलाती। उसकी सारी सन्तान, देह, आत्मा, सम्पत्ति केवल पर-हित-साधन के लिये है।

भेद-भाव छोड़कर सेवा-व्रत धारण करो। संसार भर चरणों पर लोटेगा।

यदि तुम अपने दोषों को स्वयं सहर्ष स्वीकार कर लेने में समर्थ होगे तो सारी जनता तुम्हारे गुणों को भी ग्रहण करने में प्रसन्नता और उत्सुकता प्रकट करेगी।

यदि तुम्हें अपने प्रभुत्व का गर्व होने लगे तो पहले इसकी जाँच-कर लो कि यह कहाँ तक तुम्हारे आचरण और प्राप्त अधिकार के योग्य है अर्थात् अपने अधिकार और स्वभाव की सीमा

से बाहर बहक कर गर्व न करो। समझ लो कि प्रत्येक मनुष्य को—प्राणी मात्र को—जिसे कुछ भी शक्ति दी गई है उसे भिन्न भिन्न प्रकार के—छोटे या बड़े—अधिकार भी प्राप्त हैं।

× × × ×

कर्त्तव्यच्युत मनुष्यों के साथ सहानुभूति न रखो। सचेत हो जाओ—कर्त्तव्य से विमुख होकर किसी पुरुष पर कृपा की कोर न निहारो।

सेवा करना ही केवल सच्ची प्रीति-पूजा है। सदा साथ-साथ लिपटे फिरने से—पीछे पीछे लगे रहने से—सेवा नहीं हो सकती और न प्रेम ही निबह सकता।

पहले अपने को ठीक—दुरुस्त—करके काम-काज करने में लगाना चाहिये। ऐसा नहीं कि आप तो ठीक ही नहीं हुए—व्यर्थ की बातें झाड़ कर, बस, अलग हो गये कि मेरे योग्य काम ही ठीक नहीं है। अपने तो नाचे ना जाने, अँगना टेढ़।

जब तुम अपरिचित मनुष्यों के मध्य में रहो तो उन लोगों से अपनी शुभ कामना प्राप्त करने की चिन्ता रखो—उन लोगों की प्रीति-भरी सहानुभूति लाभ करने की चेष्टा करो—ऐसा नहीं कि अपनी बड़ाई और बहादुरी की डींग हाँक कर उन लोगों पर अपने बड़प्पन का भार लादने ही में मस्त रह जाओ और अनेन प्रकारेण सेवा से च्युत हो जाओ।

प्रकृति-निर्मित संसार भर की सेवा-शुश्रूषा में तन मन से तत्पर रहना ही उस सर्वव्यापी जगदाधार की पक्की पूजा है।

गुरु, पिता, माता, हित, मित्र, बन्धु, बान्धव, कुटुम्ब, परिवार, पड़ोसिया और सहवासी—इन मान्यगण्य व्यक्तियों की सेवा करते करते लोक-सेवा, देश-सेवा और क्रमशः विश्व-सेवा करना सीख जाओगे।

शुद्ध शुद्ध विचारों को हृदय में स्थान देने का यही परिणाम होता है कि सेवा करने की ज़ोरदार शक्ति प्राप्त होती है और हम-लोगों की स्वार्थ-सिद्धि की बुद्धि का ह्रास हो जाता है। स्वार्थ-परता को भूल कर विश्व-सेवा करने की लगन तभी लगेगी जब हम लोगों के विचार परिष्कृत और सुष्ठु होंगे।

हम लोग जब बीमार पड़ते हैं तब बीमार-दारी करनेवाले की सेवा-शुश्रूषा देख कर हम लोगों को यह अनुभव होता है कि सेवा के कार्य्यों को सविधि सम्पादन करने में मस्तिष्क को नियुक्त, या उसका प्रयोग करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी शरीर की कार्य्यकारिणी शक्ति की। दूसरों की विपत्ति देख कर अस्पष्टरूप से अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रगट करो, क्योंकि तुम्हारे अज्ञानता के कार्य्यों से वह कहीं अधिकतर मूल्यवान है। समझो, लल्लोपत्तो की चिकनी-चुपड़ी बातों से बढ़ कर गुप्त सहाय्यदान की महिमा है।

जो लोग समझते हैं कि मेरे सेवा के कार्यों की समाप्ति हो गई वे शायद पशुओं और पौधों की स्थिति भूल गये हैं, क्योंकि विश्व-सेवा ही के लिये ये भी हैं—विचार कर देख लो। ऐसे कितने पड़े हैं जिन्हें दूसरों की सेवा करने का समय नहीं मिलता किन्तु

उन्हें ही किसी प्रकार अपनी सेवा दूसरों से कराने के लिये प्रचुर समय मिल जाता है। जिस पुरुष के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है उसके विषय में अपनी भली या बुरी सम्मति प्रगट नहीं करना ही दुर्लभ सेवा-कार्य है । जिसका बाह्याभ्यन्तर तुम्हें कुछ भी मालूम नहीं है उसकी समालोचना न करो। अयोग्य की निन्दा करो, न योग्य की प्रशंसा।

सेवा की जिस 'रीति' से सेव्य पुरुष सुखी हो सके वही (रीति) ग्राह्य है। अपनी मनमानी 'रीति' से सेवा करने से विश्व-सेवा का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। जिस तरह की सेवा की जिसे आवश्यकता है उसे उसी तरह की सेवा सुलभ करना या पहुँचाना विश्वसेवकों का दृढ़व्रत होना चाहिये। जो लोग इस बात पर असन्तोष प्रकट करते हैं कि उनकी सेवा उन्हीं के इच्छानुकूल 'रीति' से क्यों न स्वीकार की गई, स्यात् उन्हें अभी यह मालूम ही नहीं है कि सच्ची-सेवा क्या वस्तु है।

सावधान हो—ध्यान दो—चेष्टा करो कि तुम्हारे सेवा के कार्य्यों में तुम्हारे वचनों की अपेक्षा अधिकाधिक उत्कृष्टता हो। कहने से बढ़ कर करने में तत्पर रहो। उसे कदापि सच्ची सेवा न समझो जिसमें लग जाने से तुम अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हुए जाते हो। मानव जीवन को साफल्य प्रदान करने वाले कर्त्तव्यों को करते हुए यदि विश्वसेवा में अपनी प्रवृत्ति करोगे तो तुम्हारा जीवन निस्सन्देह अनुकरणीय एवं निष्कलङ्क हो सकेगा।

आसमुद्र पृथिवी—मेरा देश !
और
परहितसाधन—मेरा धर्म्म !

सेवा-धर्म का महत्व

अपनी इच्छा से—विना किसी प्रकार के बन्धन वा स्वार्थ के—किसी दीन दुःखी प्राणी की सेवा करना, इससे परे क्या यज्ञ है, क्या तप है, क्या दान है, क्या सुख है ? असहाय प्यासे को पानी, भूखे को अन्न, शीत से सताये हुए को वस्त्र देना, जले हुए के घाव पर मलहम लगाना, डूबते को बचाना, जिसके घर में आग लगी है उसके घर की आग बुझाना—उसके प्राणियों को आग से बचा लेना, रोगी को औषधि देकर रोग की पीड़ा से छुटा देना, अन्धों का सहारा होना, अनाथ बच्चों और विधवाओं के माता-पिता वा भाई बनना, मेले में निराश बिछुड़े हुओं को मिला कर उन्हें नया प्राण देना, जो अजान अकिञ्चन प्राणी विदेशों में अकेले छूट गये हैं उनको सहायता देकर उनके घर पहुँचाना, ठग, लुटेरों और अन्यायियों से सताये जानेवालों के रक्षक होना, समाज की, बिना वेतन की, शुद्ध और निष्काम पुलीस बन कर,

सेवा करना—इससे अधिक पवित्र क्या कार्य्य हो सकता है, इससे अधिक सुख और सौभाग्य का विषय क्या हो सकता है ?

—माननीय पं० मदन मोहन मालवीय ।
—(सेवा)

यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरों के लिये उपयोगी बनने का प्रयत्न करे, स्वार्थ को हृदय से निकाल दे, प्रेम की आराधना करे और यदि शक्तिशाली लोग निर्बलों की सहायता करने लगें, ज्ञानी अज्ञानियों को सुमार्ग बतावें, धनाढ्य निर्धनों की सहायता करें तो यह संसार थोड़े ही समय में सेवा-धर्म के वास्तविक तत्व को समझ कर प्रेममय हो जाय ।

—"सेवक"

वास्तव में क्षुधित को अन्नदान, तृषित को जलदान, निराश्रित को आश्रयदान और रोगाक्रान्त को प्राणदान देना ही उस अशरण-शरण दीनबन्धु की सच्ची पूजा है ।

—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ।

श्रेष्ठ है सेवा-धर्म्म सुकर्म । समझते बुध हैं इसका मर्म ।
रहा जो सेवा में असमर्थ । समझिये जीवन उसका व्यर्थ ॥

—*—

जिस मनुष्य के हृदय ने दूसरों के साथ प्रेम करने में और उन्हें लाभ पहुँचाने में अपने आपको भुला दिया है उसे उच्चकोटि का सुख ही नहीं मिलता किन्तु उसने नित्य और स्थिर जगत में

प्रवेश कर लिया है। जितना ही वह स्वार्थ छोड़ता जायगा उतना ही उसमें प्रेम, पवित्रता, जीवमात्र के प्रति मैत्रीभाव और अपने देशबन्धुओं के लिये सेवाभाव का समावेश होता जायगा। यदि वह अपने जीवन पर एक दृष्टि डाले और कार्य्यों का सिंहावलोकन करे तो उसे ज्ञात होगा कि उसके लिये सबसे अधिक सुख के वे दिवस होंगे वा थे जब कि उसने किसी के लिये दया के शब्द अपने मुख से निकाले हों अथवा परोपकार के कार्य्य किये हों और दूसरों के हित के लिये अपने स्वार्थ की आहुति दी हो, क्योंकि उस समय उसे अनुभव होता होगा कि वह अपने सेवाधर्म का पालन कर रहा है जो मनुष्य के लिये सर्वोपरि आनन्ददायक है।

—"सेवक"

सेवक-महत्व ।

जगत् में सेवक-धर्म महान ।
जो जन शुभ सेवा-वेदी पर अर्पण करते प्रान,
मर्त्यलोक को स्वर्ग बनाते कर सब का कल्यान ॥
कहलाते यद्यपि वे सेवक पर पाकर सम्मान,
सबके हृदय राज्य करते नित, भरते सुख की तान ॥
हरिश्चन्द्र से सत्य सु-सेवक ऋषि दधीचि सुज्ञान,
सेवक बने, नृपति शिवि, सबने पाई मुक्ति महान ॥

जिया स्वहेतु, किया क्या ? यों तो जीते शूकर श्वान !
जीना वही सार जिससे हो जाति-देश-उत्थान ।।
जगत् में सेवक-धर्म महान ।।

—रामशरण गुप्त (सेवा)

साहिब ते सेवक बड़ो, जो निज धर्म सुजान ।
राम बाँधि उतरे उदधि, लांघि गये हनुमान ।।

—तुलसीदास ।

सेवा-धर्म सिखलाता है कि सदैव प्रेम को हृदय में रक्खो और प्रेममय आचरण करो । ध्यान रक्खो कि मानवजीवन में प्रेम का विकाश करने के लिये सहृदयता की आवश्यकता है । यह वही शक्ति है जो मनुष्य को प्रेममय बना कर सेवा-धर्म की उस वेदी पर बिठाती है जहाँ से वह प्रत्येक प्राणी को समानता की दृष्टि से देखता है ।

—"सेवक"

सेवाधर्म की शिक्षा ।

स्मरण रक्खो कि सेवाधम केवल चिन्ता का मार्ग नहीं है । वह केवल कहने मात्र का कर्म नहीं है । बल्कि वह है सच्चे निस्वार्थ हृदय से उत्पन्न हुई प्रेममयी आकांक्षा, सहानुभूति, सहृदयता और दया का कर्ममय स्रोत । संसार में वाणी द्वारा कह देने की ही

शिक्षा सेवाधर्म नहीं देता बल्कि वह काम, क्रोध, मोह, लोभ, इन्द्रिय-लालसा, स्वार्थ, कायरता, द्वेष, हिंसा और अपवित्रता आदि समस्त दुर्गुणों को त्याग कर प्रेममय बनने और संसार को प्रेम के रंग में रँग कर पराये हित के लिये अपने प्राण तक न्यौछावर कर देने की शिक्षा देता है।

—'सेवक'

जिससे समाज-सेवा, देश-सेवा, स्वार्थत्याग, सहकारिता, आत्मसंयम, परस्पर सहायता और अत्युच्च धार्मिक विकास के ध्येय पैदा हों ऐसी शिक्षा भौतिक शिक्षा के साथ हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है।

—श्री गोपालदामोदर तामसकर (सरस्वती)

यदि कोई चरित्रवान नवयुवक वास्तव में सेवा करने की इच्छा रखता है तो उसे अधिक प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं। उसे चाहिये कि वह अपने नगर की किसी सार्वजनिक संस्था के मंत्री को सहायता देना स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करे जिससे प्रायः सेवा और अनुभव-प्राप्ति का द्वार खुल जावेगा।

—सेवामार्ग।

सेवाधर्म ही वह धर्म है जो प्रत्येक मनुष्य को, प्रत्येक जाति को और प्रत्येक देश को प्रेम की शिक्षा देता है। प्रेम पर ही संसार की स्थापना हुई है। यही एक ऐसी शक्ति है जो मानव जाति को परस्पर हितैषी बनने की शिक्षा देती है।

—"सेवक"

सेवा का आधार प्रेम है ।

जिन प्रेमियों का कर्म बस निस्स्वार्थ सेवा मात्र है ।
वे ही जगत् की ज्योति उज्ज्वल, प्रेम के सत्पात्र हैं ॥

—प्रेमपुष्पाञ्जलि ।

ब तक मनुष्य का हृदय प्रेमरस से सराबोर नहीं होता तब तक वह किसी जीव को सुखी बनाने की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। जब हृदय में प्रेम की गंगा बहने लगती है तब प्राणियों के प्रति दया उत्पन्न होती है। दया उत्पन्न होते ही मनुष्य के रोम रोम से सहानुभूति का भाव टपकने लगता है। सहानुभूति जब उमड़ पड़ती है तब वह सच्ची सेवा के रूप में बदल जाती है। प्रेम ही सेवा करने के लिये उत्साहित करता है। प्रेम ही सेवा की ओर प्रेरित करता है। बिना प्रेम के कभी सेवा नहीं होती, यदि हो भी तो उससे सेव्य सुखी नहीं होता। इसी लिये, प्रेम की दूसरी संज्ञा है—"सेवा"।

—"भारतवर्ष" (बँगला)

जब प्रेम का अमृत मानव-हृदय को सजीव बना देता है तब सहृदयता का विकास होता है। सहृदयता प्रस्फुटित होती है तो भ्रातृ-भाव की तरंगें दृश्यमान जगत् को परिप्लावित कर देती हैं—। भ्रातृत्व का केन्द्र विस्तृत होकर विश्व-प्रेम बन जाता है। तब कहीं

प्रत्येक प्राणी के प्रति सहोदरता का भाव जागता है और उनकी सेवा-सहायता में प्रवृत्त कराता है।

—"इन्दु"

स्वयंसेवक का धर्म परोपकार है।

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिते सुकृताभियोगाः॥

[भावार्थ]

दिनकर कमलों को स्वच्छ देता सुहास।
शशि कुमुद गणों को रम्य देता विकास।
जलद बरसते हैं भूमि में अम्बु-धारा।
सुजन बिन कहे ही साधते कार्य्य सारा॥१॥
विकल अति क्षुधा से देख के पुत्र प्यारा।
जननि-हृदय से है छूटती दुग्ध-धारा।
लख कर कुदशा त्यों दीन दुःखी जनों की।
सहज प्रकट होती है दया सज्जनों की॥२॥

—(कवि) पंडित लक्ष्मीधरजी वाजपेयी।

जो गरीब सों हित करें, धनि रहीम वे लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई योग॥

—रहीम।

परोपकार ।

(१)

जो पराये काम आता धन्य है जग में वही;
द्रव्य ही को जोड़ कर कोई सुयश पाता नहीं ।
पास जिसके रत्नराशि अनन्त और अशेष हैं;
क्या कभी वह सुरधुनी के सम हुआ सलिलेश है ?

(२)

है उसीका कीर्तिकारक जन्म इस संसार में ।
दे दिया सर्वस्व जिसने और के उपकार में ॥
धन्य हैं जड़ वृक्ष वे जो सौख्य बहु देते हमें ।
ध्यान देते हैं नहीं, इतने पड़े हम मोह में ॥

(३)

लाभ अपने देश का जिससे नहीं कुछ भी हुआ,
जन्म उसका व्यर्थ है जल के बिना जैसे कुँआ ।
इस जगत में वन्य पशु से भी निरर्थक है वही,
क्यों कि पशु के चर्म से भी काम लेती है मही ॥

—(**सूक्तिमुक्तावली**)

यदि कोई मनुष्य तुम्हें जल पिलावे और उसके बदले में तुम भी उसको जल पिलाओ तो तुम्हारी यह सेवा कुछ भी नहीं है । शोभा इसी में है कि अपकार करनेवाले के साथ भी तुम उपकार ही करो । वास्तव में शोभा है भी इसीमें कि बुराई के बदले

भलाई की जाय। याद रक्खो, हमारे धर्म का मूल कर्त्तव्य-पालन से मिल सकता है तो तुम सदा अपने कर्त्तव्य का ही ध्यान रक्खो। कर्त्तव्य-पालन में तुमको कभी किसी मनुष्य से डरने की आवश्यकता न होगी। तुम केवल परमेश्वर से भयभीत हो।

—महात्मा गान्धी।

उपकारिषु यः साधुः
साधुत्वे तस्य को गुणः ?
अपकारिषु यः साधुः
स साधुः सद्भिरुच्यते॥

भावार्थ—अपनी भलाई करनेवाले का उपकार करना वास्तविक साधुता नहीं है। वह तो बदला चुकाना है। उसका महत्व ही क्या ? सत्पुरुष तो उसीको साधु मानते हैं जो अपनी बुराई करनेवाले की भी भलाई ही करता है—

मन्द करत जो करै भलाई।
उमा सन्त की इहै बड़ाई॥

—तुलसीदास।

सम्मानित होकर जिसे, रहना हो संसार में।
तन मन धन अर्पण करे, वह पर के उपकार में॥

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोव तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वा को है तिरसूल॥

—कबीरदास।

तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पानि।
कह "रहीम" परकाज-हित, सम्पति सचहिं सुजान॥

—रहीम

पशु पत्ती वृत्तादिक भी तो पर उपकारी होते हैं।
फिर क्यों हम उपकार रत्न को जानबूझ कर खोते हैं॥

"दादू" दीया है भला, दिया करो सब कोय।
घर में धरा न पाइये, जो कर दिया न होय॥

—दादूदयाल।

तब हीं लगि जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै "रहीम"॥१॥
यों रहीम सुख होत है, उपकारी के अंग।
बाँटनवारे के लगै, ज्यों मेहँदी को रंग॥२॥

—रहीम।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥

भावार्थ—उस सोने के सुमेरु पर्वत से क्या लाभ और उस चाँदी के कैलास पर्वत से ही क्या प्रयोजन जिसके आश्रय में रहने वाले वृत्त जैसे के तैसे ही बने रहते हैं। हम तो उस मलयाचल को ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं जिसके आश्रित कंकोल, निम्ब और कुटज आदि कड़वे-कँटीले वृत्त भी चन्दन हो जाते हैं, ऐश्वर्यशाली

होने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा तो सचमुच वही है जिससे दूसरों का उपकार होता है ।

दया ही सेवा की शक्ति है ।

जैसे तू अपनी रक्षा के लिये अपने परमात्मा के भरोसे है वैसे ही गूँगे और असहाय पशु अपने बचाव के लिये तेरे भरोसे हैं । यदि तू उनके ऊपर दया नहीं करता तो तुझे अपने ऊपर परमात्मा की दया पाने का कोई अधिकार नहीं ।

—महात्मा बुद्धदेव ।

अधिकतर नगरों में ही पशुओं पर निष्ठुरता की जाती है। घोड़ा-गाड़ी के घोड़ों से बहुत अधिक काम लिया जाता है । उन्हें खाने को भर पेट नहीं मिलता। अपनी शक्ति से बाहर बोझ खींचने के लिये उन्हें पीटा जाता है। बोझ के मारे बैलों की आँखें निकलते देखना तो मामूली बात है और जब वे ठहर जाते हैं तब असह्य बोझ को बिना सहायता के ले जाने के लिये विवश किये जाते हैं । यहाँ तक कि यदि वे बोझ के मारे गिर पड़ते हैं या बैठ जाते हैं तो उनको निर्दयता से मार कर बलात्कार से खड़ा किया जाता है । दुधार गायें अस्वास्थ्यकर स्थानों में ठूँस दी जाती हैं और उन्हें प्रकाश तथा काफी हरी घास भी नसीब नहीं होती ।

—"सेवामार्ग" ।

लोग समझते हैं कि जितना ही कड़ा दण्ड दिया जायगा उतने ही कम अपराध होंगे। पर संसार का अनुभव और इतिहास बतलाता है कि दण्ड की कड़ाई अपराधों की संख्या बढ़ाती है और नम्रता का प्रयोग अपराधों की संख्या घटाता है। लोग समझते हैं कि मारने-पीटने से लड़के पढ़ते हैं, पर नम्रता और दया के बरताव से ही लड़के पढ़ने-लिखने और आचार व्यवहार में अधिक उन्नति करते हैं।

—सत्यशोधक (सरस्वती)

अपने जीव के बराबर दूसरे का जीव और अपनी बुराई के समान ही दूसरे की बुराई को समझ कर जो चलता है वही सब धर्म का सारांश जानता है।

—महात्मा विदुर ।

आटा चींटी बिहग-गन थे वारि औ अन्न पाते ।
देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि में भी ॥
पत्तों को भी न तरु गन के वे वृथा तोड़ती थीं ।
जी से वे थीं निरत रहतीं भूत-सम्वर्द्धना में ॥

—"प्रियप्रवास"।

बड़े दीन को दुख सुने, लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ॥

—रहीम ।

दाया दिल में राखिये, तू क्यों निरदइ होय।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुञ्जर सोय॥

—कबीरदास।

सच्चे स्वेच्छासेवक का ध्येय।

सेवक बन निष्काम-कर्म से कुछ सेवा कर जाऊँ मैं।
विश्वम्भर! सर्वदा विश्व के सदुपयोग में आऊँ मैं॥१॥

तृषितों को शीतल जल दूँ मैं,
क्षुधितों को सुमधुर फल दूँ मैं।
विकलों को विशेष कल दूँ मैं,
निबलों को अपना बल दूँ मैं।

दीन, हीन दुखियों को सुख दे, प्रेम-अश्रु बरसाऊँ मैं।
विश्वम्भर! सर्वदा विश्व के सदुपयोग में आऊँ मैं॥२॥

पंगु पुरुष का हाथ गहूँ मैं,
अन्ध पुरुष के साथ रहूँ मैं।
व्यथितों में सन्ताप सहूँ मैं,
आकुल से कुछ आप कहूँ मैं।

नग्न जनों को पट प्रदान कर उनकी लाज बचाऊँ मैं।
विश्वम्भर! सर्वदा विश्व के सदुपयोग में आऊँ मैं॥३॥

अज्ञजनों को ज्ञानदान दूँ,
भयभीतों को अभयदान दूँ।

लोक-सेवक लड़के ।*

अँगरेज़ी में "Scouting" स्कौटिंग शब्द के अर्थ हैं किसी गुप्त बात का पता लगाना, किसी भेद का मर्म जानना, इत्यादि । अतएव स्कौट्स (Scouts) वे लोग कहलाते हैं जो भेदिये का काम करें; किसी गुप्त बात की खोज करें । लड़ाई के अवसर पर स्कौट्स (Scouts) दुश्मन के भेद जान कर अपने पक्षवालों को बड़ी सहायता पहुँचाते हैं । इस कार्य-साधन में असाधारण योग्यता और चतुरता की आवश्यकता पड़ती है । इसी लिए इसका भार बड़े ही योग्य सैनिकों को सौंपा जाता है । इन लोगों को युद्ध के स्कौट्स-(War Scouts) अर्थात् युद्ध के भेदिया कहते हैं । इसी तरह शान्ति के स्कौट्स (Peace Scouts) भी होते हैं । उनमें भी उन्हीं गुणों का होना आवश्यक है जो युद्ध के स्कौट्स (War Scouts) में होते हैं । ब्वाय स्कौट्स (Boy Scouts) अर्थात् भेदिया लड़कों के सङ्गठन का सम्बन्ध इन्हीं शान्ति के स्कौट्स (Peace

---

* इस लेख में आवश्यकतानुसार यत्रतत्र कुछ हेरफेर भी कर देना पड़ा है । कई जगह थोड़ा समयानुकूल परिवर्त्तन कर दिया गया है । कुछ अनावश्यक अंश छोड़ भी दिया गया है । लेखक महोदय के भाव, विचार और वाक्य बदले नहीं गये हैं । क्षमाप्रार्थी—संकलनकर्ता ।

Scouts) से है । पर उनके काम के लिहाज़ से उन्हें लोक-सेवक कहना ही अधिक युक्ति-सङ्गत है ।

उनकी अवस्था ११ से १८ वर्ष के भीतर होनी चाहिये । प्रवेश के समय कुछ रस्म अदा करनी पड़ती है । तदुपरान्त नये रँगरूट लड़के से उसका अफ़सर कुछ प्रश्न करता है और वह उनका निम्न-लिखित उत्तर देता है ।

मैं प्रतिज्ञा-पूर्वक प्रण करता हूँ कि—

(१) सृष्टिकर्त्ता ईश्वर और स्वदेश के प्रति मैं अपने धर्म का पालन करूँगा ।

(२) दूसरे लोगों की मैं सर्वदा सहायता करूँगा ।

(३) अपनी संस्था के नियमों के अनुसार मैं आचरण करूँगा ।

इसके बाद उससे फिर यह प्रश्न किया जाता है कि तुम प्रतिज्ञा-व्रत-धारण से क्या अभिप्राय समझते हो ? वह उत्तर देता है कि "प्रतिज्ञा करने पर मेरे लिए उसका पालन करना अनिवार्य है ।" इसके उपरान्त उसका नाम लोक-सेवकों की श्रेणी में दर्ज कर लिया जाता है ।

लोक-सेवकों को निम्नलिखित बातें करनी पड़ती हैं—

(१) लोक-सेवकों की प्रतिज्ञा पर विश्वास करना चाहिए । यदि कोई लोक-सेवक प्रतिज्ञा कर के वचन दे दे कि मैं अमुक काम करूँगा तो इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि वह उसको अवश्य

करेगा। इसी तरह यदि लोक-सेवकों का अफ़सर किसी सेवक को वचनबद्ध कर के कोई काम करने की आज्ञा दे तो उस सेवक का धर्म है कि वह उस आज्ञा का पालन करे, चाहे वैसा करने में उसको दुःख या कष्ट भले ही हो। प्रतिज्ञा-भङ्ग करने पर दोषी लोक-सेवक से उसकी चपरास (Badge) छीन ली जा सकती है और उसका नाम भी लोक-सेवकों के रजिष्टर से काट दिया जा सकता है।

(२) हर लोक-सेवक का परम धर्म है कि वह ईश्वर-भक्त हो। अपने अफ़सर, अपने माता-पिता, अपने स्वामी, अपने देश और अपने सङ्गी-साथियों पर उसकी पूर्ण भक्ति हो; सुख-दुख में वह इनका साथ दे और शत्रुओं तथा अहित-चिन्तकों से इनकी रक्षा करे।

(३) दूसरे लोगों के काम आना और उनकी सहायता करना लोक-सेवकों का मुख्य कर्तव्य है। चोट-चपेट खाये हुए मनुष्यों की सेवा करने तथा दूसरों के प्राण बचाने के लिए सेवकों को सदा तैयार रहना चाहिए। ऐसे समय में लोक-सेवक को अपनी तकलीफ़, आराम तथा आत्म-रक्षा की ज़रा भी परवा न करनी चाहिए; किन्तु अपने आपको भूल कर उसे वही कार्य करना उचित है जो दूसरों के लिए हितकर हो। प्रतिदिन कम से कम एक बार दूसरों के साथ भलाई करना लोक-सेवक का काम है। यदि किसी दिन ऐसा करने के लिए उसे मौक़ा न मिले तो दूसरे दिन वही काम उसे दो बार करना चाहिए। इसके स्मरणार्थ लोक-सेवकों को वस्त्र में गाँठ दे लेनी चाहिए।

(४) लोक-सेवकों के लिए मनुष्य-मात्र मित्र के समान हैं। एक सेवक का दूसरे के साथ पारस्परिक व्यवहार भ्रातृवत् होना चाहिए। ग़रीब-अमीर, नीच-ऊँच में भेदभाव करना सर्वदा मना है।

(५) लोक-सेवकों को सबके साथ नम्रता-पूर्ण बर्ताव करना चाहिए—विशेष कर स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों, लँगड़े-लूलों और रोगियों के साथ। सेवा करने पर पुरस्कार आदि का लेना सर्वथा वर्जित है।

(६) पशु-पक्षियों के प्रति भी सेवकों को सदा दयालु होना उचित है। तुच्छ से तुच्छ कीड़े-मकोड़ों की भी हत्या करना मना है।

(७) लोक-सेवक को अपने माता-पिता तथा अफ़सरों की आज्ञा मानना अनिवार्य्य है; चाहे उनकी आज्ञा सेवक की इच्छा के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल। इच्छा के प्रतिकूल आज्ञा मिलने पर भी लोक-सेवक का धर्म है कि वह उसका तत्काल पालन ठीक उसी तरह करे जिस तरह फ़ौज में सिपाही इत्यादि करते हैं। इसके उपरान्त यदि वह चाहे तो अपनी प्रतिकूल राय उस विषय में प्रकट कर सकता है।

(८) कठिनाइयों तथा आपत्तियों के समय लोक-सेवकों को प्रसन्नचित्त रहना चाहिए किसी कार्य में असफल होने पर उदास होना मना है। लोक-सेवकों को चाहिये कि ऐसे समय को हँस-हँसा कर टाल दें। उन्हें क़सम खाना मना है। क़सम खानेवालों तथा अपशब्द प्रयोग करनेवालों की सज़ा होती है। आज्ञा-पालन

के समय लोक-सेवकों को शिथिलता न करनी चाहिए, किन्तु प्रसन्नता-पूर्वक तुरन्त ही उसे पूरा करना चाहिए।

(९) सेवकों को उचित है कि वे सदा मितव्ययी हों और बचाये हुए धन को किसी बेंक में जमा करें, जिसमें आवश्यकता पड़ने पर अपने तथा दूसरों के लिए वे सञ्चित धन का उपयोग कर सकें।

(१०) हर लोक-सेवक को मन से, वाणी से और कर्म से सदा शुद्ध और पवित्र होना चाहिए और सदा अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखना चाहिए।

"सदा तैयार रहना" लोक-सेवकों का मूल-मन्त्र है। मानसिक और शारीरिक, दोनों ही प्रकार की तैयारी उनके लिए आवश्यक है। मानसिक तैयारी से यह तात्पर्य्य है कि मन को सदा ऐसी शिक्षा मिलती रहे जिससे आपत्ति आदि के समय वे तुरन्त ही यह निश्चय कर सकें कि उस समय उन्हें क्या करना चाहिए। शारीरिक तैयारी इस लिए की जाती है कि बिना स्वस्थ शरीर के कोई कार्य अच्छी तरह कर सकना असम्भव है।

लोक-सेवकों के शिक्षा-दान में नीचे लिखी बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

(१) **चरित्रगठन**—सेवकों को युक्तिमान्, स्वावलम्बी, पुरुषार्थी, सत्यव्रत, प्रत्यक्ष अनुभवी इत्यादि बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

(२) उदर-पोषण—इसके लिए सेवकों को हर तरह के उद्योग-धन्धे सिखलाये जाते हैं।

(३) लोक सेवा—में काम आने के लिए सेवकों को अनेक उपयोगी विषय सीखने पड़ते हैं। जैसे, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करना, आघातों की प्रारम्भिक चिकित्सा करना, डूबते हुए मनुष्य को बचाना, आग लगने पर उसकी शान्ति का यत्न करना इत्यादि। इन आपत्तियों के निवारणार्थ उन्हें हर तरह की युक्तियाँ सिखलाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त ग्रहों, नक्षत्रों, पहाड़ों, नदियों तथा जीव-जन्तुओं इत्यादि के सम्बन्ध का ज्ञान भी उन्हें प्राप्त करना पड़ता है। गाना-बजाना, दुभाषिये का काम जानना, पदार्थ-विज्ञान में गति प्राप्त करना भी उनके लिए आवश्यक है। गुप्त भेदों का पता लगाने का उपाय जानना भी आवश्यक है। जैसे, यदि, किसी स्थान में हत्या हो जाय और हत्यारा न पकड़ा जाय तो अनुमान से यह जान लेना कि किस पुरुष ने हत्या की, कैसे की, काहे से की, क्यों की, किधर से आया, किधर से गया और उसका पता कैसे लग सकता है, इत्यादि।

(४) स्वास्थ्य-रक्षा के—अभिप्राय से लोक-सेवकों को शारीरिक व्यायाम तथा तरह तरह के खेल-कूद का अभ्यास करना पड़ता है। किन्तु प्रचलित कसरतों और खेल-कूदों से उनके खेल-कूद और कसरतें बिलकुल ही निराले ढँग की होती हैं। उनके लिए हाकी, फुटबाल, क्रिकेट तथा डम्बेल्स इत्यादि विशेष लाभकारी नहीं समझे जाते। उनकी कसरतें इस प्रकार की होती हैं

जिनसे मन और मस्तिष्क दोनों ही की शक्ति बढ़े और शरीर भी नीरोग रहे। केवल मोटा ताज़ा शरीर होने ही से मनुष्य बलिष्ठ नहीं होता। इसी तरह खेल-कूद में भी यह ध्यान रक्खा जाता है कि लोक-सेवकों में बुद्धि का विकास हो, उनकी स्मरण-शक्ति की वृद्धि हो, उनमें साहस का उदय हो, इत्यादि।

इसकी बदौलत देश के बच्चे आदर्श बालक बन जाते हैं। देश-प्रेम, साहस, बुद्धि, बल, पराक्रम, पुरुषार्थ आदि गुणों का सञ्चय कर के वे चरित्रवान् बन जाते हैं। उदर-पूर्ति के उपाय सीख कर वे जीवन-निर्वाह करने में समर्थ होते हैं।

—"ब्रह्मानन्द" (सरस्वती)

वीर स्वयंसेवक।

भूल कर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं।
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं?
जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं।
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं॥
आजकल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं।
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं॥
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके किये?
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये॥

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना॥
हँसते हँसते जो चबा लेते हैं लोहे का चना।
"है कठिन कुछ भी नहीं" जिनके है जी में यह ठना॥
कोस कितने हूँ चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं?॥
देख कर दुख दूसरों का चैन वह पाता नहीं।
एक छोटे कीट से भी तोड़ता नाता नहीं॥
तंग करना, जी दुखाना, छेड़ना भाता नहीं।
वह बनाता है, कभी सुलझे को उलझाता नहीं॥
लोक-सेवा से सफल होकर सदा बढ़ता है वह।
धूल बन कर पाँव की, जन-सीस पर चढ़ता है वह॥
कँप उठें सब लोक, पत्ते की तरह धरती हिले।
राज, धन, जाता रहे, पद, मान, मिट्टी में मिले॥
जीभ काटी जाय, फोड़ी जायँ आखें, मुँह सिले।
सैकड़ों टुकड़े बदन हो, पर्त चमड़े का छिले॥
छोड़ सकता उस समय भी वह नहीं अपना धरम।
जब रहें हर एक रोंयें नोचते चिमटे गरम॥

—"हरिऔध"।

विश्व-प्रेम।

(श्रीमान् पण्डित ईश्वरीप्रसाद जी शर्मा)

ह संसार एक विचित्र नाट्यागार है, जहाँ प्रत्येक प्राणी कुछ दिनों तक अपना निर्दिष्ट कार्य-क्रम करता हुआ, उसे पूरा कर, पर्दे की ओट हो जाता है। सब की एक ही गति है। कोई अनन्त काल तक, यावच्चन्द्रदिवाकरौ यहाँ वर्तमान नहीं रहता। यह जीवन चार दिनों की चाँदनी है। दो दिनों का खेल है। माया की मरीचिका है। पानी का बुलबुला है। जिसके न उठते देर न गिरते देर। लेकिन इसी क्षण-भंगुर शरीर पर, इसी अनित्य जीवन पर, हम अज्ञानान्धकार में पड़े हुए प्राणी अहंकार करते हैं। किसीको अपने धन का अहंकार है। किसीको अपने विशाल बाहुबल का अहंकार है। तो कोई अहंकार करता है अपने रूप-यौवन और अलौकिक प्रतिभा का। किन्तु सब की परिणति क्या है? वही श्मशान की जाज्वल्यमान चिता में भस्म होना अथवा पाँव फैलाये क़ब्र की मिट्टी-तले अनन्त निद्रा में चिरकाल के लिये सो जाना! फिर यह अहंकार काहे का? जगत के हितचिन्तक त्रिकालज्ञ महर्षियों ने इसी लिये तो कहा है कि जो अपना परिणाम सोचता रहता है, जिसे अपनी मृत्यु याद रहती है, वही धर्म कर सकता है।

धर्म क्या है ? संसार को धारण करनेवाली शक्ति का ही नाम धर्म है। पर उसकी यह परिभाषा बड़ी जटिल है। इस सूत्र की व्याख्या करनी अतीव दुरूह है। तब हमारी मोटी समझ से तो धर्म वही है जिससे जगत् के किसी भी प्राणी का जी न दुखे। उसके शरीर को कष्ट न पहुँचे। आत्मा को क्लेश न हो। इसे ही धर्म्म कह सकते हैं। सारे संसार के मतों का—धार्म्मिक विश्वासों का—सार यही है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या जैन, क्या पारसी, क्या बौद्ध, क्या क्रिश्चियन, कोई भी मत हो वह इस सार्वजनीन प्रेम, इस निरन्तर विश्व-हित-चिन्तना को ही सबसे श्रेष्ठ मानता है। इस विषय में किसीका मतभेद नहीं। गौतमबुद्ध, महावीर, जोरास्ट्र, ईसा, मुहम्मद—जिसने इस विश्व-प्रेम की महिमा गायी, जिसके हृदय में विश्व-प्रेम का अंकुर पैदा हुआ, जिसने सारे संसार की हितैषणा को ही मनुष्य-जन्म का अन्तिम लक्ष्य किंवा सर्वोच्च धर्म-साधन समझा, वही जगत में आदरणीय हुआ—उसी के पदप्रान्त में लाख लाख प्राणियों ने प्रणिपात किया और उसके अनुसार अपने जीवन का आदर्श संगठित कर अपना जन्म सार्थक किया।

प्रेम का अंकुर प्राणीमात्र के हृदय में जन्म से ही वर्त्तमान रहता है। चाहे वह संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य हो अथवा क्षुद्रतम कीट-पतंग। गायों का अपने बच्चों पर मनुष्य की माता की अपेक्षा कम प्यार नहीं होता। कबूतर कबूतरी को वैसी ही प्रेममयी दृष्टि से देखता है जैसे दोनों आँखों में हृदय को खींच लाकर तुम अपनी प्रणय-भागिनी की ओर देखते हो। बच्चा अज्ञान

होता है। बछड़े तो यों ही अनबोलते जीव हैं। पर तुम उन्हें उनकी माता से पृथक् कर देखो, वे किस बेचैनी के साथ माता की गोद में जाने के लिये, माता के पास पहुँचने के लिये रोते-चिल्लाते हैं।* गुलाब का फूल डाल से तोड़ते ही मुर्झाने लगता है। लताएँ वृक्ष के आश्रय में ही रहना चाहती हैं। लाख रोकोगे तो भी नदियाँ अपने प्राणेश्वर सागर के क्रोड़ में ही विलीन होना चाहती हैं। प्रेम की धारा तुम्हारे क्या किसीके भी, रोके नहीं रुक सकती। वास्तव में यदि धर्म की परिभाषा यही हो कि, जो शक्ति संसार का धारण करती है वही धर्म है, तो हमारा यह कहना सब को अवश्य ही मान्य होगा कि प्रेम उसी धर्म का पर्याय-वाची शब्द है। क्योंकि, प्रेम ही वह शक्ति है जो संसार को धारण किये हुए है।

पृथ्वी में उपजाने की शक्ति अवश्य है पर यदि वह जोती न जाय, उसमें बीज न डाले जायँ, तो यों कूड़ा-कर्कट, घासें और जंगली वनस्पतियाँ चाहे उग भी जायँ पर संसार के पालन-पोषण करनेवाले अन्न कहाँ से पैदा हों? उसी तरह हमें प्रेम की खेती करने की भी आवश्यकता है। हममें से प्रत्येक के हृदय में—हृदय में ही क्यों अस्थि—मज्जा में, रग-रग में, नस-नस में, प्रेम की सत्ता विद्यमान है। पर, उसे उत्तरोत्तर विस्तृत क्षेत्र में ले जाने

* ख्यातनामा वैज्ञानिक डाक्टर जगदीशचन्द्र वसु ने वनस्पतियों में जीवन और सुखदुःखानुभव की विद्यमानता सिद्ध कर दी है और संसार भर के वैज्ञानिकों ने उनका सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है।

के लिए अनवरत उद्योग करते रहना चाहिये। अपने जन्मगत सम्बन्धियों, माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-बच्चे, हित–नाते और गाँव–नगर से बढ़ते बढ़ते इस सारे सृष्टि के यावत् जीव-समूहोंपर प्रेम हो जाय, तभी समझना कि नर-जन्म सार्थक हो गया। देश-भक्ति बड़ी अच्छी चीज है। जन्मभूमि का प्रेम अभिवन्दनीय है। परन्तु जिसे सारे संसार के सभी देशों से समान प्रेम हो जाय –संसारमात्र अपना घर मालूम पड़े और जीवमात्र भाई भाई; तभी समझना कि उस मनुष्य को देवत्व प्राप्त हो गया। मित्र के लिये किस के हृदय में सहानुभूति नहीं होती? पर शत्रु के लिये भी जिसका हृदय करुणा से आर्द्र हो जाय वही महात्मा है। अपने भाई-बन्दों के लिये सारी दुनियाँ लाखों तरह के दुःख-कष्ट अम्लान मुख से सहन कर रही है। पर एक चींटी के भूल से पैरों तले कुचल जाने से जिसकी आँखें भींग जाती हैं, कलेजे में चोट बैठती है, निश्चय ही उसके स्नेही हृदय का मूल्य इन्द्र के सिंहासन से भी अधिक है।

अपने से अवस्था में हीन, बुद्धि में हीन, धन से हीन, जन से हीन, सब तरह से हीन प्राणि या प्राणि-समूह की ओर जो स्नेह भरे नेत्रों से देखता है, उनके दुःख से दुःखी और उनके सुख से सुखी होता है, ऐसे प्रेम-मय जीवों की अपेक्षा बड़भागी दूसरा कौन होगा? पृथ्वी-माता का मुख इन्हीं विश्व-हितैषियों के द्वारा उज्ज्वल है। इन्हीं का जीवन सार्थक है। येही जीवन के उच्च-तम आदर्श को प्राप्त करनेवाले श्रेष्ठ जीव हैं। इसमें किसे सन्देह होगा? जिसे

सन्देह हो उसे हम मनुष्य की तो बात ही क्या—पाषाण भी कहते हुए हिचकेंगे। क्यों कि, पहाड़ों से भी झरने निकलते हैं! उनमें भी कुछ आर्द्रता होती है। और ये सन्दिग्ध प्रेमशून्य प्राणी तो बिलकुल ही भाव-हीन होने के कारण पत्थर से भी गये-बीते हैं।

इसीसे कहते हैं कि विश्व-प्रेमी बनो। प्राणी मात्र पर प्रेम करना सीखो। यदि धर्म में श्रद्धा है जीवन को आदर्श-रूप बनाना है, सृष्टि की सेवा करके मेवा लेना है, तो प्रेमी बनो—सब को समान भाव से, प्रेम की दृष्टि से, देखो। मेरे-तेरे और अपने-पराये के झगड़े-बखेड़े दूर कर पूर्ण प्रेम-मय हो जाओ। तभी समझोगे कि इस पाप-ताप पूर्ण, शोक-दुःख मय, माया-मय, छलना-मय क्षुद्र संसार में भी शान्ति का स्थान है। इस मरुभूमि में भी मन्दाकिनी की धारा बह सकती है। इस कण्टकाकीर्ण वन-स्थली में भी नन्दन-वन के फूल खिल सकते हैं। उस समय चारो ओर शान्ति, दशों दिशाओं में शान्ति,-अशान्ति के भीतर भी शान्ति, कोलाहल के अन्दर भी निस्तब्धता की छटा, अनेकत्व में भी एकत्व और मर्त्यलोक में भी अमरत्व की आभा झलकने लगेगी।

प्रेममय हो जाओ सब पर प्रेम की रक्खो नज़र।
प्रेम की धारा बहा दो जीवधारी मात्र पर॥
जैसे दिनकर देते हैं सब जीवधारी को प्रसाद।
वैसा ही तुम भी करो तज मेरे तेरे का प्रमाद॥

—दीन कवि
(प्रेम-पथिक)

दुखिया के आँसू ।

बावले से घूमते जी में मिले ।
आँख में बेचैन बनते ही रहें ॥
गिर कपोलों पर पड़े बेहाल से ।
बात दुखिया आँसुओं की क्या कहें ? ॥ १ ॥

हैं व्यथायें सैकड़ों इन में भरी ।
ये बड़े गंभीर दुख में हैं सने ॥
पर इन्हें अवलोक कर के दो बता ।
हैं कलेजा थामते कितने जने ? ॥ २ ॥

बालकों के आँसुओं को देख कर ।
है उमड़ आता पिता उर प्रेममय ॥
कौन सी इन आँसुओं में है कसर ।
जग जनक भी जो नहीं होता सदय ॥ ३ ॥

चन्द्-वदनी-आँसुओं पर प्यार से ।
हैं बहुत से लोग तन मन वारते ॥
एक ये हैं, लोग जिनके वास्ते ।
हैं नहीं दो बूँद आँसू डालते ॥ ४ ॥

क्या न कर डाला खुला जादू किया ।
आँख के आँसू कढ़े या जब बहे ॥
किन्तु ये ही कुछ हमें ऐसे मिले ।
हाथ ही में जो विफलता के रहे ॥ ५ ॥

पोंछ देने के लिये धीरे इन्हें।
है नहीं उठता दयामय कर कहीं॥
इन बेचारों पर किसी हमदर्द की।
प्यार वाली आँख भी पड़ती नहीं॥ ६॥
क्यों घरों से ये दृगों में आ कढ़े?
था भला, जो नष्ट हो जाते वहीं॥
जो किसीका भी इन्हें अवलोक कर।
मन न रोया जी पसीजा तक नहीं॥७॥
भाग फूटा बेबसी लिपटी रही।
बहु दुखों से ही सदा नाता रहा॥
फिर अजब क्या इस अभागे जीव के।
आँसुओं का जो असर जाता रहा॥८॥
वह पड़ी जो धार दुखिया आँख से।
क्यों न पानी ही उसे कहते रहें?॥
है नहीं जिसने जगह जी में किया।
हम भला कैसे उसे आँसू कहें?॥९॥
है कलेजे को घुला देता कोई।
मैल चितवन पर कोई लाता नहीं॥
कौन दुखिया आँसुओं पर हो सदय।
पूछ ऐसों की नहीं होती कहीं॥१०॥

—"हरिऔध"

हृदय !

हृदय ! तू कर सब का उपकार ।
क्षणिक लाभ के वश में आकर, ऐहिक सुख पर चित्त चला कर ।
अबल जनों पर बल दिखला कर, मत बन शठताऽगार ॥
हृदय ! तू कर सब का उपकार ॥१॥

तू न और को मार अमर हो, रक्त-पान पर मत तत्पर हो ।
कभी न पैशाचिक-कृति-कर हो, त्याग न सत्याचार ॥
हृदय !......................॥२॥

पर-धन दृष्टि अगर आ जाये, तेरे मुख में लार न आये ।
तू न किसी को दास बनाये, और न गठरी मार ॥
हृदय !......................॥३॥

तू बन वनज मित्र जग को कर, उदय देख हँस हर्षित होकर ।
किन्तु अस्त पर दुःख प्रकट कर, दे दो आँसू डार ॥
हृदय !......................॥४॥

जिसके पय को पान किया है, जिसने जीवन-दान दिया है ।
बदले में कुछ भी न लिया है, उस पर सर्बस वार ॥५॥
हृदय ! तू कर सब का उपकार ॥५॥

कवि पाण्डेय बेचनशर्मा "उग्र" (सौरभ)

"सेवा-सम्बन्धिनी
सुधा-सिक्त सूक्तियाँ"

जस को सवाद जो पै सुनो कवि आनन सों,
रस को सवाद जो पै और को पिआइये।
जीभ को सवाद बुरो बोलिये न काहू कहूँ,
देह को सवाद जो निरोग देह पाइये।
घर को सवाद घरनी को मन लिये रहे,
धन को सवाद सीस नीचे को नवाइये।
कहै "द्विजराम" नर जानि कै अजान होत,
खैबे को सवाद जो पै और को खवाइये॥

महात्माओं के उपदेश।

वशिष्ठमुनि जो श्रीरामचन्द्र को दिन भर उपदेश करते थे उसको रामचन्द्र रात में, केवल एक पहर सोते थे और तीन पहर मनन करते थे।

—योगवाशिष्ठ।

यदि ईश्वर प्रसन्न रहेगा तो औरों की प्रसन्नता से हानि न होगी और जब ईश्वर अप्रसन्न हो जायगा तब संसार की प्रसन्नता कुछ काम न आवेगी। ईश्वर से निराश होना ही नास्तिकता है। ईश्वर से कभी निराश मत होना। यदि ईश्वर की इच्छा अपने विरुद्ध हो तो भी दुःखित न होना, प्रसन्न रहना ही ईश्वर को प्रसन्न करता है और सुख के आगमन का कारण होता है।

—धर्मप्रदर्शनी।

बालक के लिये लिखना-पढ़ना सीखने और सांसारिक ज्ञान प्राप्त करने के पहले इस बात का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है कि आत्मा क्या है, सत्य क्या है, प्रेम क्या है और आत्मा के अन्दर कौन कौन सी शक्तियाँ छिपी हुई हैं।

—महात्मा गांधी।

अज्ञानी रूपवान का संग करना नहीं चाहिये क्योंकि तलवार यद्यपि सुन्दर है परन्तु प्राणनाशक है। शीलवान पुरुष दूसरों का

भी अपना (सगा) है और दुःशील निज आत्मीय लोगों का भी परकीय है।

—हकीम लुक़मान।

जैसे पत्थर का टुकड़ा पहाड़ पर मिहनत और तकलीफ़ से चढ़ता है और सुगमता से लुढ़कता हुआ पीछे को चला आता है वैसे ही नेकी के ढालू पहाड़ की चोटी पर चढ़ना दुस्तर है पर बुराई की तरफ़ फिसल जाना आसान है।

—एक अँग्रेज़ी कवि।

सोने के पहले तीन चीज़ों का हिसाब कर लो, तब सोओ। पहले यह सोचो कि आज के दिन कोई पाप तो हमसे नहीं हुआ है। दूसरा यह सोचो कि कोई उत्तम कर्म्म हमने किया है या नहीं। तीसरा यह कि कोई काम करने के योग्य हमसे छूट गया है या नहीं।

—अफ़लातून हकीम।

जो अपने वास्ते तुम भला न समझो, दूसरों के लिये भी वैसी इच्छा मत करो। जो उपदेश औरों को दो उसके पहले ही से आप उसके अनुसार चलो।

—यूनानी लुक़मान।

मनुष्य को चाहिये कि जितना आप बोले उससे अधिक सुनने की इच्छा रखे, क्योंकि परमेश्वर ने आदमी को दो कान और एक जीभ दी है, कहने से दूना सुनना और धारण करना उचित है, इसके विरुद्ध करने से ईश्वरेच्छा-विरुद्ध होता है।

—हकीम अफ़लातून (धर्मदर्शनी)

जो लोग तुमसे धन, ज्ञान, शक्ति अथवा पद में छोटे हों उनके साथ तुम्हें वैसी ही सहानुभूति प्रकट करनी चाहिये और उनकी वैसी ही सहायता करनी चाहिये जैसी कि लोग अपने पुत्र की करते हैं। तथा, प्रतिफल की आशा न करके यह समझना चाहिये कि यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमको लोगों की सेवा करने से मातृ-पद प्राप्त करने का महान सुख अनुभव करने का अधिकार है।

—स्वामी रामतीर्थ।

सदाचारी और साहसी बनो।

यदि कोई मनुष्य अपना ही सुधार नहीं कर सकता तो वह फिर दूसरों का सुधार कैसे कर सकता है।

—कनफ़ूसियस।

लालच छोड़ दो, क्षमाशील बनो, अभिमान त्याग दो, पाप से बचे रहो, सच बोलो, सदाचारी बनो, विद्वानों का संग करो, बड़ों का आदर करो, विनयी बनो, आत्म-प्रशंसा कभी मत करो, यश की रक्षा करो, दुःखियों पर दया करो, यही सन्तों का लक्षण है।

—हितोपदेश।

जिसको साधारण लोग साहस—निर्भयता से रण में घुस जाना या भयानक गहरे गढ़े में कूद पड़ना—कहते हैं वह साहस

का केवल एक प्रकार है, परन्तु वास्तविक साहस जो सब प्रकारों से कहीं ऊँचा है—कर्म अथवा वाणी द्वारा मृत्यु को तुच्छ समझने का नाम है ।

—अलबरूनी ।

सच्चरित्रता ही मानव-जीवन का गौरव एवं अलंकार है ।

—सेमुएल स्माइल्स ।

मनुष्य का आचरण ही उसका मौन किन्तु प्रभावशाल उपदेश है ।

—महात्मा शेख़सादी ।

सत्य बोलो, चाहे वह तुम्हारे अपने ही विरुद्ध क्यों न हो ।

—कुरानशरीफ़ ।

तुम्हारे जीवन का आनन्द तुम्हारे विचारों पर अवलम्बित है । विशुद्ध विचार ही आनन्द के भण्डार हैं ।

—स्वामी दयानन्द सरस्वती ।

जिसने अपने को बिलकुल शुद्ध कर लिया है ऐसा एक भी आदमी हज़ार धर्मप्रचारकों के मुक़ाबले में कहीं बढ़ कर काम करता है । चित्त की शुद्धि और मौन रहने से ही बात में जोर आ जाता है ।

—स्वामी विवेकानन्द ।

धीरे धीरे भ्रमित मन को
योग-द्वारा सम्हालो ।

स्वार्थों को भी जगत-हित के
अर्थ सानन्द त्यागो।
भूलो मोहो न तुम लख के
वासना-मूर्तियों को।
यों होवेगा शमन दुख औ
शान्ति प्यारी मिलेगी।

—प्रियप्रवास।

किसी पराई स्त्री से बोलना अधर्म है। परन्तु जब किसी कार्य्य के लिये बोलने की आवश्यकता हो तो अपने वय से कम की स्त्री को हे पुत्री! और, अपने वय के समान स्त्री को हे भगिनी! और, अपने वय से अधिक स्त्री को हे माता! कह कर बोलना चाहिये।

—मनुस्मृति।

सामिल में पीर में सरीर में न भेद राखै,
हिम्मत कपट को उघारै तो उघरि जाय।
ऐसे ठान ठानै तो बिना हूँ जंत्र मंत्र किये,
साँप के जहर को उतारै तो उतरि जाय।
"ठाकुर" कहत कछु कठिन न जानो अब,
हिम्मत किये ते कहो कहा न सुधरि जाय॥
चारि जने चारिहु दिसा ते चारो कोन गहि,
मेरु को हिलाय कै उखारैं तौ उखरि जाय॥

—ठाकुर।

मेरी दृढ़ धारणा है कि कोई मनुष्य उस समय तक बड़े काम अथवा राष्ट्रोन्नति करने में समर्थ नहीं हो सकता जब तक उसके आचरण सच्चे न हों और उसके वचनों का मूल्य न हो। जो लोग जातीय सेवा करना चाहते हों अथवा जो लोग वास्तविक जीवन का आनन्द लेना चाहते हों, चाहे वे विवाहित हों या अविवाहित, उन्हें सदा ब्रह्मचर्य्यपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये।

—महात्मा गांधी ।

जैसे समुद्र पर चलते हुए जहाज को पवन-वेग इधर उधर बहा ले जाता है वैसी ही इन्द्रियों के विचरण-वेग से बुद्धि डामाडोल हो जाती है। इस लिये इन्द्रियों को विषयों में विचरण करने से रोकना चाहिये। इसीसे बुद्धि स्थिर होगी।

—गीतादर्शन ।

निर्भीक और गुणग्राही बनो ।

सम्राटों के सामने भी सत्य बोलने में उनके क्रोध से मत डरो। उनका तुम्हारे शरीर पर चाहे अधिकार हो पर आत्मा का वे कुछ भी नहीं कर सकते।

—ईसामसीह ।

हर एक वस्तु में कोई न कोई गुण अवश्य है। संसार को

कोई वस्तु निरर्थक नहीं है। हमें सब पदार्थों के गुणों पर और अपने दोषों पर सदा दृष्टि रखनी चाहिये।

—महात्मा गोखले।

हकीम लुक़मान से किसीने पूछा कि "आपने इतने गुणों को किससे पाया? उन्होंने उत्तर दिया कि, "एक से नहीं वरन् बहुतों से, जिस छोटे से छोटे पुरुष में भी जो गुण देखा उससे पूछने और शिष्य बनने में लज्जा और अभिमान नहीं किया।

—धर्म प्रदर्शनी।

तुम ईश्वर के सिवा किसीसे मत डरो। तुम्हारे स्थूल शरीर पर चाहे किसी राजा या सम्राट् का अधिकार भले ही हो पर तुम्हारे हृदय, अन्तरात्मा, वचन, भाव और विचारों पर केवल उसी अखण्ड-ब्रह्माण्ड नायक परमेश्वर का अधिकार है। यदि तुम उससे डरोगे तो संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति भी तुम्हारे चरणों पर लोटेगी। जो ईश्वर का भय मानता है, वह सर्वत्र निर्भय रहता है।

—लोकमान्य तिलक।

आत्मत्यागी बनो।

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते आत्मत्यागी उसे हैं॥
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी! सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है॥

—प्रियप्रवास।

जो सच्चा स्वार्थत्यागी है वही आत्मत्यागी कहे जाने योग्य है। निष्काम हो कर जो चराचर मात्र की सेवा और रक्षा करता है वह आदर्श आत्मत्यागी अपने तेज बल और प्रभाव से असंख्य कुमार्गियों और कुत्सित हृदयवाले मनुष्यों का सहज ही सुधार कर सकता है। जैसे "पारस परसि कुधातु सुहाई" वैसे ही एक आत्मत्यागी अनेक भ्रष्ट-बुद्धि दुष्टों को पवित्र कर सकता है। जब तक स्वार्थ से पिण्ड नहीं छूटता तब-तक मनुष्यत्व अलग रहता है। जब परार्थ स्वार्थ विसर्ज्जन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है तब देवत्व इस मानव-शरीर में व्याप्त हो जाता है। जो सर्वस्व त्याग कर आत्मत्यागी बन जाता है वह ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है। वह समस्त प्राणियों के दु:ख से दु:खी और सुख से सुखी होता है। प्राणियों की सेवा ही उसका ध्येय बन जाती है।

—आत्मविद्या।

सहृदय और उदार बनो।

सोई ज्ञानी सोइ गुनी, जन सोइ दाता ध्यानि,
"तुलसी" जाके चित भई, राग द्वेष की हानि॥

गुसाईंजी।

जीवन का अर्थ उन्नति है। उन्नति का मतलब हृदय का विस्तार है और हृदय का विस्तार तथा प्रेम एक ही वस्तु है। अतः प्रेम ही जीवन हुआ और वही एकमात्र जीवन-गति का नियामक

है। विस्तार ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। प्रेम ही जीवन और द्वेष ही मृत्यु है। उदारता ही जीवन और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। हम जिस दिन से संकुचित होने लगे, हमने अन्यान्य जातियों को घृणा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया, उसी दिन से हमारी मृत्यु का श्रीगणेश हो गया!

—विवेकानन्द।

जिसका चित्त करुणा के आँसू से सिञ्चित रहता है वह निश्चय ही सहृदय बन जाता है। दूसरे के दुःखों का अनुभव करने की शक्ति प्राप्त करना ही सहृदयता है। सहृदयता का केन्द्र जब अत्यन्त विस्तृत हो जाता है तो उसे ही उदारता कहते हैं। जो उदार होता है वह प्राणीमात्र के हृदय के साथ अपना हृदय जोड़ देता है।

—मानसी (बँगला)

सहनशील और सन्तोषी बनो।

जैसी परै सो सहि रहै, कहि रहीम यह देह।
धरती ही पर परत सब, शीत घाम औ मेह॥

—रहीम।

रूखा सूखा खाइ कै, ठण्ढा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥

—कबीरदास।

लोभ सरिस अवगुन नहीं, तप नहिं सत्य समान ।
तीरथ नहिं मन शुद्धि सम, विद्या सम धन आन ॥

—गिरिधरदास ।

तुम जितना ही सहनशील बनोगे उतना ही तुम्हारा स्वभाव गम्भीर और बुद्धि स्थिर बनती जायगी। जब चित्त चंचल न रहेगा और मन कभी विचलित न हो सकेगा तब तुम लोभ के जाल से मुक्त होकर सन्तोषी बन जा सकते हो ।

—बाइबिल ।

मञ्जुभाषी बनो ।

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँओर ।
बसीकरन यह मंत्र है, परिहरु बचन कठोर ॥

—तुलसीदास ।

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय ।
औरन को सीतल करै, आपहुँ सीतल होय ॥

—कबीरदास ।

ऐसा वाक्य कहना जिससे किसीको दुःख नहीं हो और जो सत्य, प्रिय तथा हितकारी हो, और स्वाध्याय अर्थात् धर्मग्रन्थों का अभ्यास करना, यही वाङ्मय तप है ।

—श्रीमद्भगवद्गीता ।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

भावार्थ—जो बात सच हो और प्रिय हो वह कहना चाहिये, जो सच हो और सुननेवाले को प्रिय न हो वह बात न बोले, जो प्रिय हो किन्तु झूठ हो वह भी न बोले । यही सनातन धर्म है ।

—"मनु" ।

हितार्थी पुरुष को उचित है कि जैसे वह किसी पूज्य सज्जन के सम्मुख हाथ जोड़ता हो उससे अधिक दुर्जन के सम्मुख हाथ जोड़े और दुर्जन को मीठी मीठी बातों से परितुष्ट करके छोड़े, मनोहर वाणी से सबको सन्तुष्ट करे, क्योंकि कटु बोलनेवाला यदि कुबेर के समान दाता हो तो भी लोगों को सन्तापदायक होता है । बुद्धिमान पुरुष दुःखित होने पर भी कटु वचन न कहे, मित्र और शत्रु से भी सदा प्रिय ही वचन बोलना उचित है । जो लोग प्रेम, सत्कार और मैत्री की इच्छा रखते हैं और प्रिय बोलते हैं, वे मनुष्य के रूप में देवता हैं, उनका आचरण सराहने योग्य है ।

—शुक्राचार्य्य (धर्मप्रदर्शनी ।

विनयी बनो ।

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेश ।
भार धरें संसार को, तऊ कहावत शेष ॥

—रहीम ।

अपने को सबों से बहुत बड़ा वज़न करना और सृष्टिमात्र से बढ़ कर अपने को पसन्द करना ऐब है। सब किसीको देखना और अपने को न देखना आँख की पुतली से सीखना चाहिये।

—एक फ़ारसी कवि।

नर की अरु नल नीर की, एकै गति करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चलै, ते तो ऊँचो होय॥

—बिहारीलाल।

परमेश्वर की कृपा से अदब (विनय) एक प्रकार का मुकुट है जिसको अपने सिर पर रक्खो और जहाँ चाहो बेरोक चले जाओ।

—एक फ़ारसी कवि।

घमण्ड तबाही लाता है। अहंकारियों के साथ गुमराह होने के बनिस्बत ग़रीबों के साथ नम्र रहना उत्तम है। जो तुनुक-मिज़ाज नहीं है वह बलवान आदमी से अच्छा है। जो अपने दिल पर हुक्म चलाता है वह मुल्क फ़तह करनेवाले से बड़ा है।

—एक अँग्रेज़ी कवि (धर्मप्रदर्शनी)

भली गरीबी नवनता, सकै न कोई मार।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार॥

—सहजोबाई।

सत्संगी और कर्त्तव्यपरायण बनो।

कर्त्तव्य-ग्रहण।

सन्ध्या-रवि ने पूछा—'मेरा कार्य्य-भार अब लेगा कौन' ?
सुन कर यह रह गया जगत् तब चित्र समान निरुत्तर मौन !
मिट्टी का दीपक जलता था, उसने कहा विनय के साथ— ?
विदा आप हों शक्ति जहाँ तक कार्य करूँगा मैं दिननाथ !

—पारसनाथ सिंह बी. ए. (सरस्वती)

उत्तम जन सों मिलत ही, अवगुण सो गुण होय।
घन सँग खारो उदधि मिलि, बरसै मीठो तोय॥

—वृन्द कवि।

सुन्दर जो गाफ़िल हुआ, तौ वह साईं दूर।
जो बन्दा हाजिर हुआ, तौ हाजराँ हजूर॥

—सुन्दरदास।

साधु संग सुख में बड़ो, जो करि जानै कोय।
आधो छिन सत्संग को, कलमष डारे खोय॥

—दयाबाई।

कुसंग सर्वथा छोड़ दो, क्योंकि यह काम, क्रोध, मोह, स्मृति-भ्रंश, बुद्धि-नाश और सर्वनाश का कारण है। बुरे संग से इन दोषों की तरंग समुद्र की तरंगों के समान बड़ी हो जाती हैं।

भगवद्गीता।

गुणायन्ते दोषाः सुजनवदने दुर्जनमुखे
गुणा दोषायन्ते तदिदमपि नो विस्मयपदम् ।
महामेघः क्षारं पिबति कुरुते वारि मधुरं
फणी क्षीरं पीत्वा वमति गरलं दुस्सहतरम् ॥

भावार्थ—सज्जन पुरुषों के मुख में दोषावह वचन भी गुण-दायक बन जाते हैं। दुष्टों के मुख में शुभ एवं पवित्र वाणी भी दूषित हो जाती है। इसमें आश्चर्य्य करने की कोई बात नहीं है। समुद्र का खारा पानी मेघ के मुख में जाते ही मीठा हो जाता है और सर्प को यदि दूध भी पिलाइये तो वह विषम विष ही उगलेगा !—

सीप गये मोती भये, कदली भये कपूर ।
अहि सिर गये तो विष भये, संगति के फल सूर ॥

क्षमाशीलता सीखो ।

छमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय ।
अगिन परी तृन रहित थल, आपहि ते बुझि जाय ॥

—वृन्द ।

छिमा बड़न को चाहिये, छोटन को उत्पात ।
का रहीम हरि को घट्यौ, जो भृगु मारी लात ॥

—रहीम ।

क़सूर माफ़ करना जवाँमर्दों का स्वभाव है। दुश्मन के अत्याचारों को भूल जाओ और उसके ज़ुल्म के बदले उसकी नेकी करो। माफ़ कर देने में जो आनन्द है वह बदला लेने में नहीं है।

—एक फ़ारसी कवि।

ईसामसीह से किसीने पूछा कि, "सब से बड़ा अजेय कौन है ?" ईसा ने उत्तर दिया कि "ईश्वर का क्रोध"। पूछनेवाले ने फिर प्रश्न किया कि, "ईश्वर के कोप से कैसे बच सकते हैं ?" इस पर उन्होंने कहा कि, "अपने क्रोध को जीतने से परमेश्वर के क्रोध से बच सकते हो"।

—धर्मप्रदर्शनी।

क्षमा वीरों का भूषण है और तपस्वियों का तेज है। क्षमा करो और भूल जाओ, तब देखो कि कितना आनन्द मिलता है। अपराध क्षमा करने से अपराधी सुधर जाता है।

—महात्मा विदुर।

नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

—सुभाषित।

किसानों को गले लगाओ ।

चल उठ, यहाँ क्या आँख मूँदे गोमुखी में हाथ डाले, जप कर रहा है ? यदि ईश्वर के दर्शन करने हैं तो वहाँ चल जहाँ किसान जेठ की दोपहरी में हल जोत कर चोटी का पसीना पैरों तक बहा रहा है ।

—कवीन्द्र रवीन्द्र ।

सच पूछिये तो देश के किसान—देश के खेतिहर—ही देश हैं । क्योंकि उनकी संख्या सब से अधिक—अर्थात्, लगभग ९० फ़ी सदी—है । अतएव, किसानों का समुदाय ही देश है । किसानों की दशा सुधारना—उन्हें शिक्षित करना, उन्हें वैज्ञानिक ढंग से खेती करना सिखाना, उन्हें लगान और मालगुज़ारी के क़ानून का ज्ञान कराना, उन्हें अपना हक़ प्राप्त करने के योग्य बनाना—ही सबसे बड़ी देश-सेवा, सबसे बड़ी देशभक्ति और सबसे बड़ा देश-सुधार है ।

—पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ।

(सरस्वती–सम्पादक)

(स्वदेश से)

किसान ही समाज के लिये विष्णु-स्वरूप अन्नदाता हैं । आप किसानों के प्रति यदि कुछ भी उपकार करना चाहते हैं, तो जाइये, और उनके बीच में रहिये । उनके साथ रूखा-सूखा भोजन कीजिये तथा उनके साथ उनकी देहाती बोली बोलिये । उनके बीच "बाबू"

बन कर नहीं, बल्कि, उनके सहकारी बन कर रहिये। अपने मलमल और तंजेब आदि वस्त्रों को त्यागिये, और तब जाकर देहातों में काम कीजिये। यदि आप लोगों में से कुछ ऐसी पवित्र आत्माएँ हैं जो सच्चे पवित्र प्रेम तथा आत्म-त्याग की भूखी हैं तो उनको किसानों की दुर्दशा पर ध्यान देना चाहिये।

—पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय।
(स्वदेश)

शिक्षा का प्रचार करो।

सबसे प्रथम कर्तव्य है, शिक्षा बढ़ाना देश में।
शिक्षा बिना ही पड़ रहे हैं, आज हम सब क्लेश में॥

किसी राष्ट्र का सब से बढ़ कर महत्वपूर्ण कार्य्य 'शिक्षा' ही है।

—दादाभाई नौरोजी।

हमें ठीक तरह का यज्ञ करना चाहिये अर्थात् दीन और अनाथ लोगों की सेवा और रक्षा करनी चाहिये। यदि आप किसी मनुष्य को कोई सब से बड़ा दान दे सकते हैं तो वह केवल विद्या-दान है। आज आप किसी मनुष्य को भोजन करा दीजिये, कल फिर उसे भूख लगेगी, परन्तु यदि इसके बदले आपने उसे कोई धन्धा सिखा दिया तो आपने उसे जन्म भर रोटी कमा खाने के योग्य बना दिया।

—स्वामी रामतीर्थ।

सरसुति के भण्डार की, बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात॥

—वृन्द कवि।

भारतीय छात्रों के कर्त्तव्य।

सब क्लेशों की मूल अविद्या है दुखदायी,
जो अभाग्यवश आज यहाँ घर घर है छायी।
छात्रो! पहले इसे यहाँ से दूर भगाओ,
सुख कर ज्ञानालोक देश भर में फैलाओ।
शिक्षा-प्रचार का काम ही सब से यहाँ प्रधान है,
हरगिज़ न सुशिक्षा के बिना संभव देशोत्थान है॥
मित्रो! जागृति देशबन्धुओं में फैलाओ,
उनको तुम सब नई नई बातें बतलाओ।
दे कर समुचित सीख उन्हें उत्साहित कर दो,
उन्नति की कामना हृदय में उनके भर दो।
समझाओ उनको यह कि क्यों दुःखों से वे हैं घिरे,
किन दोषों से वे इस तरह ऊँचे चढ़ कर हैं गिरे॥
सारे सद्गुण देश-बान्धवों को सिखलाओ,
तुम अनुपम आदर्श स्वयं उनके बन जाओ।
उनमें हैं जो दोष उन्हें भी तुम दिखलाओ,
उन से जो हो रही हानियाँ उन्हें बताओ।

निज देश और निज भूप के भक्त बनाओ तुम उन्हें,
उद्योग, एकता, प्रेम के पाठ पढ़ाओ तुम उन्हें॥

—श्रीमान् गोपालशरणसिंह (सरस्वती)

जनता को ऐसी प्रारंभिक शिक्षा देनी चाहिये जिससे उसको संसार और प्राकृतिक शक्तियों का व्यावहारिक ज्ञान और अपने महत्व का अनुभव हो। उनको कार्य्यकुशल और आशा-पूर्ण बनाना चाहिये। जिसको धार्मिक और सामाजिक सुधारों में श्रद्धा है उसको कुछ काम करना चाहिये। यदि हम ऐसा समुचित मानते हैं कि जनता के जीवन और विचारों को उन्नत करके उसे अन्ध-विश्वासों से मुक्त करना चाहिये, यदि हम समझते हैं कि स्त्रियों को शिक्षा दे कर अपनी पत्नियों को वस्तुतःअपनी सहचारिणी बनाना चाहिये, तो हमको अपने आराम की पर्वाह न करके अपने सिद्धान्त के अनुसार काम करना चाहिये।

——मर्य्यादा, काशी।

यात्रियों और दिहातियों की सेवा करो।

रेल या जहाज़ में यात्रा के समय, आप ब्राह्मण या क्षत्रिय या शूद्र अथवा और किसी दूसरे वर्ण के हैं या आप हिन्दू और मुसलमान हैं या आप विहारी और दूसरे बंगाली हैं, इन भेद-भावों को अलग रख कर, परस्पर द्वेष न करते हुए, सब हिन्दुस्तान की

सन्तान हैं और आज प्रसंगवश एक छत्र के नीचे एकत्र हुए हैं, यह समझ कर, भ्रातृभाव रक्खें तो बड़ा सुख हो और भारत का प्राचीन गौरव बढ़े ।

—महात्मा गांधी ।

अँगीठी या अधियाने के चारो ओर बैठे हुए गाँववालों को यदि कोई नीति, सदाचार, धर्म और कर्त्तव्य पर कुछ सुनाया करे तो उस गाँव में बहुत सुननेवाले मिल सकते हैं और उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ सकता है कि जो उनके मस्तिष्क को बहुत कुछ उन्नत कर सके ।

—सेवामार्ग ।

यदि आप स्टेशन-मास्टर हैं तो आपसे मुसाफिरों को तकलीफ़ों का बहुत कुछ निवारण हो सकता है। ग़रीब मुसाफिरों के साथ नम्रता का बर्त्ताव रख कर अपने आधीन कर्मचारियों के लिये आप स्वयं आदर्श बन सकते हैं। यदि आप टिकट-बाबू हैं तो थोड़ा ही विचार करने से आप समझ सकते हैं कि जितना समय आप पहले और दूसरे दर्जे के मुसाफ़िरों को टिकट देने में बिताते हैं उतना समय तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के लिये भी बिताना आवश्यक है। रेलवे ग़रीबों के पैसे पर निर्भर है और उन्हीं के पैसे पर आपके वेतन का बहुत कुछ आधार है ।

—महात्मा गांधी ।

सब से भारी विघ्न तो यह है कि शिक्षित लोग प्रायः अशि-

क्षितों की उपेक्षा करते हैं। यदि अपढ़ जनता से विद्यार्थी केवल स्वतन्त्रतापूर्वक मिल सकें, उनके साथ दयापूर्ण व्यवहार करें और उन्हें कुछ मौखिक उपयोगी उपदेश (सलाह) दिया करें तो वे बहुत काम कर सकते हैं। यदि हम उनके साथ मित्रता और दयापूर्वक बातचीत करें तो हम बहुत कुछ कर सकते हैं।

—"सेवामार्ग"।

अमूल्य घृत को कृत्रिम अग्नि के मुँह में झोंकने के बदले सूखी रोटी के टुकड़े उस जठराग्नि में क्यों नहीं डालते जो लाखों भूखे परन्तु साक्षात् नारायण स्वरूप ग़रीब लोगों के अस्थि व मांस को खाये डालती है? इस प्रकार के हवन की आजकल भारतवर्ष में विशेष आवश्यकता है।

—स्वामी रामतीर्थ।

सड़क या मार्ग के किनारे के किसी स्थान में, अथवा गांव के चौक में, ऐसे मनुष्यों की बड़ी संख्या इकट्ठी की जा सकती है, जो अपनी निरक्षरता के कारण पुस्तकें या समाचारपत्रादि पढ़ने में असमर्थ हैं। मनुष्यों के इस समूह को पथ्य या उचित आहार-विहार और मलेरिया तथा तपेदिक इत्यादि पर छोटी छोटी पुस्तिकाएँ—जो इच्छा होने पर सुगमता से मिल सकती हैं—पढ़ कर सुनानी चाहिये। अथवा, उन लोगों को—जिन के लिये छापाखाना अश्रुतपूर्व वस्तु है—ऐसी बात जो कम उपदेशप्रद और अधिक लोकप्रिय हो, सुनाई जा सकती है। गाँव के चौक या

चौपार पर लोग समुचित ढंग से चुने हुए समाचार-पत्रों को प्रायः बड़ी उत्सुकता से सुनेंगे।

—सेवामार्ग।

यदि आप पढ़े-लिखे और देश-प्रेमी हैं तो अपने देश-प्रेम का उपयोग अपने प्रसंग में आनेवाले ग़रीब या अनपढ़ मुसाफ़िरों के दुःख मिटाने में कर सकते हैं। किसी मुसाफ़िर पर अत्याचार होता हो तो आप अनेक प्रकार से उसकी सहायता कर सकते हैं।

—महात्मा गान्धी।

अनाथों और विधवाओं की सहायता करो।

जो धर्म और जो ईश्वर विधवाओं के आँसू नहीं पोंछ सकता, अथवा, बिना माता-पितावाले अनाथों के मुँह में रोटी का एक टुकड़ा नहीं दे सकता, उस धर्म अथवा उस ईश्वर पर मैं विश्वास नहीं करता।

—विवेकानन्द।

कंगालों की विवश विधवा
औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना
औ उन्हें त्राण देना॥

सत्कार्य्यों का विविध-पर की
पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती स्मरण-अभिधा
भक्ति है सज्जनों में॥

मनुष्य धनसंग्रह कर लेने से बड़ा नहीं होता, राजकीय मान उसे बड़ा नहीं बना सकता, उपाधियाँ उसे महत्व नहीं दे सकतीं, चापलूसी और ठकुरसुहाती के द्वारा मनुष्य मान्य नहीं हो सकता। वह यदि बड़ा हो सकता है तो केवल देश-सेवा करने से, देश-बन्धुओं का दुखदर्द हरने से, दुःखियों को हृदय से लगाने से और पीड़ितों को सहायता पहुँचाने, अनाथों को सहारा देने, विधवाओं की रक्षा करने और उन्हें कर्त्तव्य-मार्ग सुझा कर धर्मावलम्बी बनाने तथा अनाश्रितों को आश्रय प्रदान करने से।

—"सेवक"

रोगियों और पीड़ितों की रक्षा करो।

जीवन-दान सब दानों से बढ़ कर है। जो मनुष्य वास्तव में जीवन-दान करता है वह सब प्रकार की शत्रुता का नाश कर देता है। वह परस्पर उत्तम विचारों और भावों के लिये मार्ग तैयार कर देता है।

—महात्मा गान्धी।

हे भारत के तरुण मित्रो ! मैं तुम्हारे लिये एक सम्पत्ति छोड़ जाऊँगा। वह सम्पत्ति और कुछ नहीं, केवल यही शुभ सन्देश कि "दीन, दुर्बल, निराश्रित और अत्याचार के नीचे दबनेवाले मेरे बान्धवों के सुख के लिये तुम अपना जीवन दे दो।

—स्वामी विवेकानन्द ।

स्मरण रक्खो कि तुम बीमार व्यक्ति को देखने जाते हो, अतः तुम्हारा बर्ताव अत्यंत शान्त और धैर्य्य-युक्त होना चाहिये। आनन्द दिलानेवाले शब्दों में रोगी को विश्वास दिला दो कि, जहाँ तक हो सकेगा, मैं तुम्हारी ख़बरदारी और सेवा-शुश्रूषा करूँगा। रोगियों को पढ़ने के लिये देने को (या पढ़ कर सुनाने के लिये) पुस्तकालयों अथवा अन्य मित्रों से सचित्र समाचार पत्र और मासिक पत्रों तथा पुस्तकों का संग्रह करो।

—सेवामार्ग ।

विपत-सिन्धु पड़े नर-वृन्द के
दुख-निवारण औ हित के लिये।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित-आत्म-निवेदन-भक्ति है ॥

—प्रिय प्रवास ।

सत्ययुग में मनुष्य की मुक्ति ज्ञान से थी, द्वापर में भक्ति से और त्रेता में सत्य से, परन्तु इस कलियुग में केवल सेवामार्ग ही उसका साधन है। तुम इसी मार्ग पर चलो, तुम्हारा उद्धार होगा।

जो लोग तुमसे दीन दुःखी दशा में हैं उनके समीप जाओ, उनकी सेवा करो, उनका आशीर्वाद तुम्हारा कल्याण करेगा। कलियुग में परमात्मा उसी दुःख सागर में वास करते हैं!

—"प्रेमचन्द"।

संत्रस्तों को शरण मधुरा शन्ति सन्तापितों को।
निर्बोधों को सुमति विविधा औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित जन को अन्न भूखे नरों को।
भक्ति वासी-सकल-उर-की अर्चना संज्ञका है॥

—प्रियप्रवास।

सेवा का एक रूप, जिसमें विद्यार्थी को अधिक शिक्षा की आवश्यकता और शिक्षक को किसी भारी संगठन की आवश्यकता नहीं, अस्पतालों का निरीक्षण करना है। उन प्रत्येक अस्पतालों में—जिनमें रोगियों को अस्पताल के भीतर रखने के लिये काफ़ी मकान हैं—ऐसे अनेक आवश्यक कार्य्य होते हैं जिनकी पूर्त्ति अस्पताल के कर्म-चारी नहीं करते। कोई मनुष्य अपने मित्रों से पत्र व्यवहार करना चाहता है, परन्तु कुछ अवस्थाओं में, उसके पास पत्र के लिये एक पैसा भी नहीं निकलता, या प्रायःवह लिख नहीं सकता। ऐसी अवस्थाओं में विद्यार्थियों की सहायता की आवश्यकता है। ये बातें हैं तो साधारण, परन्तु वे बीसियों उप-देशों से कहीं अधिक मूल्य की हैं।

—सेवामार्ग।

घूमूँ जा के कुसुम-वन में
प्यार से पौन सेऊँ ।
देखूँ प्यारी सुमन-लतिका
चित्त यों चाहता है ।
रोता कोई व्यथित तब लौं
जो कहीं दीख जावे ।
तो जावेंगे न उपवन में
शान्ति देंगे उसी को ।

—प्रियप्रवास ।

पसु पच्छी हू जानहीं, अपनी अपनी पीर ।
तब सुजान जानौं तुम्हें, जब जानौ पर पीर ॥

—रसनिधि ।

वह सहृदयता से ले किसी मूर्छिता को ।
निज अति उपयोगी अंक में यत्न द्वारा ।
मुख पर उसके थी डालती बारि-छींटे ।
वर-व्यजन डुलाती थी कभी तन्मयी हो ।

—प्रियप्रवास ।

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोइ ।
जो "रहीम" दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होइ ॥

—रहीम ।

अछूतों का उद्धार ही स्वराज है।

सीस कान मुख नासिका, ऊँचे ऊँचे नाँव।
सहजो नीचे कारने, सब कोउ पूजे पाँव॥

—सहजोबाई।

जो दूसरों की हवा लगने से अशुद्ध हो जाते हैं वे औरों को क्या ख़ाक पवित्र करेंगे ? छूआछूत एक प्रकार की मानसिक व्याधि है! मनसा वाचा कर्मणा "जगद्धिताय" बनना पड़ेगा। तुमने पढ़ा है "मातृदेवो भव" "पितृदेवो भव", मैं कहता हूँ "दरिद्र देवो भव", "मूर्ख देवो भव"। दरिद्र, मूर्ख अज्ञानी और कातर व्यक्ति ही तुम्हारे लिये देवी देवता हों। पददलित और दुःखत्रस्त ही तुम्हारे ईश्वर हों। उन्हींकी सेवा को तुम परम धर्म समझो।

—विवेकानन्द।

अपनी अपनी जाति या फ़िरके की सेवा करनेवालों की भारत में, सदैव अधिकता रही है। परन्तु ऐसे मनुष्यों की आवश्यकता है जो अन्य जातियों के मनुष्यों की भी सेवा करें।

—सेवामार्ग।

प्रेम के क़ानून के अनुसार प्रत्येक मनुष्य, जिसको वास्तविक सहायता की आवश्यकता है, पड़ोसी है, आत्मीय है; चाहे वह किसी जाति, कुटुम्ब, अवस्था वा सम्प्रदाय का क्यों न हो।

—सेवामार्ग।

भारत की निर्धन और अछूत जातियों के प्रश्न का अनुभव प्रत्येक शिक्षित मनुष्य को होना चाहिये। रुपया पैसा देते समय, पत्र देते समय तथा अन्य छोटे छोटे कामों के समय उन्हें छूआ करो। उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि तुम उनके साथ मनुष्य की भांति बर्त्ताव करना चाहते हो।

—सेवामार्ग।

हमें अस्पृश्यता (अछूत) की कल्पना का दोष धर्म से अवश्य दूर कर देना होगा। इसके बिना प्लेग, हैजे आदि रोगों की जड़ नहीं कट सकती। अन्त्यजों (शूद्रों) के धन्धों में नीचता की कोई बात नहीं है। डाक्टर और हमारी माताएँ भी वैसे काम करती हैं।

—महात्मा गांधी।

जो कोई इन अपने नन्हे और गिरे हुए बन्धुओं का भला करना चाहता है उसे चाहिये कि वह उन (अछूत जातियों) के पास जावे, उनसे मिले और बातें करे। आवश्यक होने से उन्हें समुचित सलाह दे और जहाँ तक सम्भव हो किसी न किसी ढंग से उनकी सहायता करे। ऐसे मनुष्य से वे हार्दिक प्रेम करने लगेंगे और जो कुछ वह कहेगा लगभग सबको करने के लिये तैयार रहेंगे।

—सेवामार्ग।

गाना जाननेवाले विद्यार्थियों को यदा कदा होष्टेल या छात्रा-लय के अतिरिक्त छोटे छोटे स्थानों पर भी जाना चाहिये। साहित्य-सभाओं का यह उद्देश्य होना चाहिये कि वह ऐसे लेख, कविताएँ

ौर प्रहसन आदि तैयार करावें जो धोबी मण्डी और मेहतरों के ुहल्ले तथा दातव्य संस्था के निवासियों को प्रसन्न, उन्नत और ानन्दित कर सके।

—सेवामार्ग।

विश्व-प्रेम।

वह अपना है या नहीं, यह अति क्षुद्र विचार।
है उदार जन के लिये, निज कुटुम्ब संसार॥
किसी भग्न प्राचीर में, छिद्र एक प्राचीन।
खिला पुष्प उस बीच है, नाम गोत्र से हीन॥
दृष्टि-पात करता नहीं, उसपर लोक-समाज।
सूर्य्य सुबह उठ पूँछता, बन्धु कुशल है आज?

—पारसनाथ सिंह, बी० ए०।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियंतः॥

भावार्थ—जिसके मन, वचन और शरीर में पुण्य का अमृत भरा हुआ है—"जो मनसा वांचा कर्मणा पुण्यातमा हैं"—जिसके उपकारों ने तीनों लोक को आनन्दित किया है; जो दूसरों के

अत्यन्त छोटे गुण को भी पर्वत-तुल्य महान् समझ कर सदा प्रसन्नचित्त रहता है—ऐसे सन्तजन विरले ही मिलते हैं ।

"सज्जनाः नहि सर्वत्र
चन्दनं न वने वने" ॥

मैं सेवक समरत्थ का, कबहुँ न होय अकाज ।
पतिवरता नाँगी रहे, तो वाही पति को लाज ॥

—कबीरदास ।

कमरी थोरे दाम की, आवै बहुतै काम ।
खासा मलमल वाफता उनकर राखै मान ॥
उन कर राखै मान बुन्द जहँ आड़े आवै ।
बकुचा बाँधै मोट रात को झारि बिछावै ॥
कह गिरिधर कविराय मिलत है थोरे दमरी ।
सब दिन राखै साथ बड़ी मर्य्यादा कमरी ॥

एकै साधे सब सधै, सब साधै सब जाय ।
जो गहि सेवै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥

—कबीरदास